स्त्री-लेखा

स्त्री विमर्श का नया मंच

वर्ष: 1, अंक: 1, फरवरी-2023

मृदुला गर्ग

रचनात्मकता के 50 वर्ष

मूल्य 100/-

मृदुला गर्ग
लेखन की अर्द्धशती

आजादी के बाद हिंदी कथा साहित्य में जिन लेखकों का नाम बड़े आदर और सम्मान से लिया जाता है, उनमें मृदुला गर्ग एक विशिष्ट एवं प्रमुख रचनाकार हैं। उषा प्रियंवदा, कृष्णा सोबती और मन्नू भंडारी की त्रयी के बाद अगर स्त्री कथाकारों की कोई त्रयी बनती है तो उसमें मृदुला जी का नाम सर्वोपरि होगा। 25 अक्टूबर 1938 को कोलकाता में जन्मी और देश के प्रतिष्ठित दिल्ली स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स से अर्थशास्त्र में स्नातकोत्तर डिग्री प्राप्त करने वाली मृदुला गर्ग की पहली कहानी रुकावट 1972 में छपी थी और तब से लेकर आज तक वह लेखन की दुनिया में सक्रिय हैं और इस तरह उनकी रचनात्मकता की अर्द्धशती पूरी हो गई है। उसके हिस्से की धूप, अनित्य चितकोबरा, कठगुलाब, डैफोडिल्स जल रहे, मिलजुल मन, मैं और मैं, जैसी महत्वपूर्ण कृतियों की रचनाकार मृदुला जी ने साहित्य की लगभग सभी विधाओं में लिखा। वह एक गम्भीर बौद्धिक और उदार स्त्री विमर्श की पैरोकार हैं पर साहित्य में स्त्री पुरुष लेखक के विभेद की समर्थक नहीं हैं और दोनों की एकसाथ मुक्ति की कामना करती हैं। वह स्त्री अस्मिता की भरोसे मंद आवाज होने के साथ–साथ व्यापक सामाजिक बदलाव की आकांक्षी और स्वप्नदर्शी रचनाकार हैं। उनके लेखन में स्वतंत्रता, न्याय, बराबरी, धर्मनिरपेक्ष मूल्यों और मानवीय संवेदना की पुकार सुनी जा सकती है। वह बेबाक और पारदर्शी लेखन में यकीन करती हैं और समाज के प्रति गहरी प्रतिबद्धता रखती है पर वह अपने लेखन में इसका प्रदर्शन जरूरी नहीं समझती हैं। वह अपने समाज की हलचलों से बाख़बर भी रहती हैं तथा भूमंडलीकरण एवं बाजार तथा राजनीतिक मूल्यों के पतन से चिंतित भी रहती हैं। स्त्री–लेखा परिवार मृदुला जी के लेखन की अर्द्धशती पर उनका अभिनंदन करता है और हिंदी समाज की ओर से उन्हें शुभकामनाएं भी देता है।

(स्त्री–लेखा सम्पादक मंडल की ओर से सुधा अरोड़ा, रोहिणी अग्रवाल, सुधा सिंह, सविता सिंह एवं अन्य सदस्यगण।)

स्त्री-लेखा

स्त्री विमर्श का नया मंच

फरवरी 2023

वेबसाइट : www.streedarpan.com

शिवपूजन सहाय-बच्चन देवी को समर्पित

सलाहकार मंडल

मृदुला गर्ग
सुधा अरोड़ा
रोहिणी अग्रवाल
सविता सिंह
सुधा सिंह

संपादक

अरविन्द कुमार

सहायक संपादक

हर्षबाला शर्मा

प्रबंधन टीम

विजय नारायण, राकेश रंजन,
सीताराम शरण, देवेश्वर शरण

संपादीय टीम

रीता दास राम, अलका प्रकाश,
अलका तिवारी, पारुल बंसल
अनुराधा ओस, सोमा बनर्जी
सुधा तिवारी

साज-सज्जा

सतीश कुमार (पटना)

सहयोग : "विभूति"

संपादकीय कार्यालय

X-11 नवीन शाहदरा,
दिल्ली-110 032
मो. : +91 9968400416
ई-मेल : streedarpan123@gmail.com

स्वामी, प्रकाशक एवं प्रिंटर दीपक मोंगा की ओर से रॉयल ऑफसेट, 489 पटपड गंज इंडस्ट्रियल एरिया, दिल्ली-92 द्वारा मुद्रित एवं X-11 नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 से प्रकाशित

पत्रिका में प्रकाशित लेखों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

अनुक्रमणिका

1.	चिट्ठी-पत्री	02
2.	संपादकीय	03
3.	शृंखला की कड़ियाँ : सविता सिंह	04
4.	आवरण कथा : शिल्पी झा	05–09
5.	आवरण कथा : मृदुला गर्ग	10–11
6.	कविताएँ : मृदुला गर्ग	12–13
7.	कहानी का प्लॉट : रुकावट	14
8.	कहानी का प्लॉट : प्रतिध्वनि	15–16
9.	पुस्तक अंश : मृदुला गर्ग की रचना	17–18
10.	विचार : प्रस्तुति किशोर कुमार	19
11.	आवरण कथा : मधु कांकरिया	20–25
12.	आवरण कथा : प्रियदर्शन	26–28
13.	आवरण कथा : डॉ. अलका प्रकाश	29–30
14.	आवरण कथा : रीता दास राम	31–33
15.	आवरण कथा : प्रो. हर्षबाला शर्मा	34–35
16.	आवरण कथा : अनुराधा ओस	36
17.	आवरण कथा : डॉ. सुधा तिवारी	37–38
18.	आवरण कथा : किशोर कुमार	39
19.	कविताएँ : यतीश कुमार	40–42
20.	मलयालम कहानी : अलका सरावगी	43–48
21.	सफरनामा : प्रितपाल कौर	49–50
22.	साक्षात्कार : रोहिणी अग्रवाल से शशिभूषण मिश्र की बातचीत	51–55
23.	अर्द्धनारीश्वर : विवेक निराला	56–57
24.	दुक्खम सुक्खम : नेहा अपराजिता	58
25.	इत्यलम : शेफाली और मेधा	59–62
26.	बीजाक्षर : प्रीति चौधरी	63–64
27.	बीजाक्षर : विपिन चौधरी	65–66
28.	अम्बपाली : रूपाली सिन्हा	67
29.	परख : रश्मि शर्मा	68
30.	दस्तावेज : गरिमा श्रीवास्तव	69
31.	बीजाक्षर : अनुराधा ओस	70

मेधा बुक्स
X-11, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

प्रकाशक
दीपक मोंगा
9868425380

stridarpan.medhabooks@gmail.com

चिट्ठी पत्री

मैं अनिता तिवारी बैकुण्ठपुर छत्तीसगढ़ अपने इस पत्र के माध्यम से विनम्र आग्रह करती हूँ कि स्त्री दर्पण पत्रिका के अगस्त अक्टूबर अंक के पृष्ठ संख्या 20 और 26 में छापे गए चित्रों को सहजता से ले पाना सम्भव नहीं भाव चाहे जो भी हो पेंटिंग हो या सस्ती लोकप्रियता पाने का प्रयास कुछ भी हो किंतु यह नारी लज्जा का अपमान है।

– अनिता तिवारी, बैकुण्ठपुर (छत्तीसगढ़)

◆

स्त्री दर्पण तभी फोकस में आ गया था जब इसमें सोशल मीडिया पर साहित्यकारों की पत्नियों की श्रृंखला शुरू हुई थी। यह साहित्य समाज का एक ऐसा जरूरी हिस्सा था जिसकी तरफ अब तक शायद ही किसी का ध्यान गया था। सोशल मीडिया से निकलकर विधिवत पत्रिका निकालने का विचार एक और जरूरी काम था। स्त्री पक्ष को केंद्र में रखकर रचनाशीलता पर विचार करना एक महत् कार्य था। स्त्री दर्पण का प्रवेशांक आश्वस्त करता है कि हमारे जीवन के अब तक के लगभग 'अनएड्रेस स्पेस' को सही परिप्रेक्ष्य में अभिव्यक्ति मिलेगी। इस अंक में गीतांजलि श्री के उपन्यास पर आवरण कथा का होना अत्यंत स्वाभाविक है। पूरे अंक में रचना शीलता और विमर्श का, साहित्य, सिनेमा, कला के साथ-साथ हिंदी के अलावा अन्य भाषाओं से सामग्री का चयन पत्रिका को पूर्णता प्रदान करता है। यह सुचिंतित संपादकीय विवेक का प्रमाण है। उम्मीद है कि यह लोकप्रिय और आवश्यक पत्रिका के रूप में हमारे बीच मौजूद रहेगी। बहुत-बहुत शुभकामनाएं।

– वरिष्ठ कवि अनूप सेठी, मुम्बई

◆

स्त्री दर्पण के पहले अंक के लिए कवि और संपादक द्वय विमल कुमार और सविता सिंह को बधाई। एक गंभीर पत्रिका प्रकाशित करना वैसे भी चुनौती है। फिर स्त्री केंद्रित ऐसी पत्रिका और भी बड़ी चुनौती है। इस अंक में बहुत सी बहुमूल्य सामग्री है। गीतांजलि श्री इस समय हिंदी का सबसे बड़ा साहित्यिक सितारा हैं। उनके महत्व को रेखांकित करने का पत्रिका ने बड़ा प्रयास किया है। अंतर्राष्ट्रीय बुकर पुरस्कार मिलने के बाद गीतांजलि श्री जी की ओर हिंदी और हिंदीतर जगत का बहुत ध्यान गया है। आपने अपनी पत्रिका के करीब 14 पृष्ठ उन्हें देकर एक जरूरी काम किया है। इतने पृष्ठ देने पर एकाध आलोचनात्मक आलेख भी होता तो अंक की महत्ता और बढ़ती। आर्गेज्म पर बहस-बातचीत की जगह आपने बनाई। समकालीन बंगला कवयित्रियों की कविताएं आदि सामग्री भी अंक के महत्व को बढ़ाते हैं। उम्मीद है पत्रिका का यह सिलसिला वर्षों तक ऐसा ही बना रहेगा। चुनौती बड़ी है। इसे उठाया है तो निभाने की जिम्मेदारी भी आप पर है अब। मेरा खयाल है कि इस दायित्व को लेने से पहले आपने इन सब पहलुओं पर सोचा होगा। इस समय इस चुनौती को निभाना काफी कठिन हो चला है। स्थापित पत्रिकाएं भी संकट में हैं।

– वरिष्ठ कवि व्यंगकार पत्रकार विष्णु नागर, दिल्ली

◆

स्त्री दर्पण पत्रिका की पूरी टीम को सादर धन्यवाद जिन्होंने मुझे इस ऐतिहासिक पत्रिका में अपने लेख के माध्यम से जुड़ने का मौका दिया। पत्रिका में शामिल कुछ चित्रों को लेकर कुछ बुद्धजीवी और सभ्य लोगों को काफी परेशानी और शर्मिंदगी हो रही है। ऐसे में स्त्री दर्पण पत्रिका जो स्त्री पर केंद्रित है या इस ढंग की कोई भी पत्रिका जो स्त्री से जुड़ी प्रत्येक समस्याओं या उनकी आवाज को बड़ी बारीकी से, एक-एक रेशे की पड़ताल कर पत्रिका के माध्यम से समाज के सामने लाने का उद्देश्य रखता है तथा स्त्री को जागरूक करता है ऐसे में यदि यह पत्रिका भी पितृसत्ता समाज की भांति परंपरा, आदर्श, संस्कृति की रूढ़िवादी मानसिकता से लिप्त होकर स्त्री मुद्दे को उठाए तो इस पत्रिका का क्या अर्थ रह जायेगा। दूसरी बात, इस पत्रिका को आप उन लाभ कमाने वाली कंपनी से तुलना नहीं कर सकते है। यहां सभ्य समाज का दावा करने वालें लोगों को पत्रिका के उद्देश्य को समझना जरूरी है साथ ही अपने नजरिए को भी ठीक करने की आवश्यकता है। बनी बनाई रूढ़वादी परंपरा, आदर्श, संस्कृति का लिबास पहनकर हम स्त्री की लड़ाई नहीं लड़ सकते। और मुझे लगता है कि ऐसे ही मानसिकता के लोगों के कारण आज भी समाज में स्त्री को वह स्थान नहीं मिल पाया है जिसके लिए सालों से यह आंदोलन चलाए जा रहे हैं।

– तुल्या कुमारी (शोधार्थिनी)
इंदिरा गांधी जनजातीय विश्वविद्यालय

◆

फेसबुक पर 'स्त्री-दर्पण' नामक मंच बनाकर स्त्री विमर्श से ताल्लुकात ढेरों साहित्यिक, उच्चस्तरीय गंभीर आयोजनों की डिजिटली सफल प्रस्तुति के बाद स्वतंत्र वेबसाइट के साथ इसी नाम से मुद्रित पत्रिका का प्रवेशांक इंटरनेशनल बुकर पुरस्कार प्राप्त गीतांजलि श्री पर केन्द्रित किया जाना समीचीन लगा। पत्रिका के संपादकीय से लेकर प्रकाशित सामग्रियों के अवलोकन के बाद यही राय बनती है कि 'स्त्रियों की नई आवाज़' को चतुर्दिक/जन-जन तक पहुंचाने के लिए एक बड़ा और सशक्त मंच उपलब्ध कराया गया है। सुचिंतित दृष्टि, कुशल संपादन, वैचारिक पक्ष से मजबूत रचनाओं वाली यह पत्रिका सभी वर्गों के पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने में सक्षम है। कहना ही होगा कि संपादकीय टीम की सूझ-बूझ का ही नतीजा है कि पत्रिका की साज-सज्जा, आकर्षक छपाई, कलात्मक पृष्ठ संयोजन, सामग्रियों का व्यवस्थित/संतुलित प्रकाशन पर विशेष ध्यान दिया गया है। चूंकि यह अंक गीतांजलि श्री पर केन्द्रित है, जाहिर है पुरस्कृत कृति 'रेत-समाधि' के बहाने उनके रचनाकर्म की गंभीर पड़ताल करते नामचीन लेखकों के आलेख भी हैं इसमें। सबसे अच्छी और नई बात यह लगी कि 'परख' के अंतर्गत पुस्तकों की विस्तृत पड़ताल तो की गई है, हाल-फिलहाल प्रकाशित महिला रचनाकारों की कृतियों की संक्षिप्त, परिचयात्मक, सार्थक टिप्पणियां भी दी गई हैं। लिपिका शाह द्वारा अनूदित समकालीन बंगला कवयित्रियों की चुनिंदा कविताओं का प्रकाशन इस अंक को उल्लेखनीय बनाता है। उम्मीद है, अपने नाम को सार्थक करती, सुरुचिसंपन्न, गंभीर, पठनीय, लीक से हटकर यह पत्रिका साहित्य जगत में गरिमामय स्थान बनाकर 'हलचल' पैदा करेगी।

– मार्टिन जॉन, अपर बेनियासोल, पो. आद्रा, जि. पुरुलिया, पश्चिम बंगाल.

◆

सोशल मीडिया पर सक्रिय स्त्री दर्पण ने भारी लोकप्रियता अर्जित की है। अनेक गुमनाम स्त्री हस्तियों और लेखकों को उसने अतीत के अंधकार से निकालकर प्रकाशित किया है। अब यह अभियान प्रिंट मीडिया में भी सामने आया है। 'स्त्री दर्पण' पत्रिका का पहला अंक अगस्त-अक्टूबर 22 देखा। स्त्री पत्रिकाओं में अभी तक केवल व्यंजन बनाने के तरीकों और सिलाई कढ़ाई को ही स्थान दिया जाता था, यानी स्त्री घर से बाहर नहीं निकले। वह केवल खाना पकाती रहे और कपड़े सीती रहे। इस स्त्री वादी सोच को सम्पादक द्वय अरविंद कुमार और सविता सिंह ने तोड़ा है। प्रगति सक्सेना का लेख "बीच बहस में : आर्गेज़्म" एक जरूरी मुद्दे को उठाता है। जिस समस्या से हर कोई जूझता है, उस पर हम बात ही नहीं करते। कब तक शरीर की अनेक समस्याएँ गुप्त बनी रहेंगी। विद्यानिधि छाबड़ा का लेख "गोकर्ण ही क्लिम समगीन थे" भी उपयोगी है। गीतांजलि श्री को बुकर पुरस्कार मिलने पर यह अंक जल्दबाजी में हड़बड़ी के साथ निकाला गया है जिससे कुछ साधारण भूल-चूक हो गई है। "सत्यजित राय की स्त्रियां" के लेखक का नाम विषय सूची में नहीं है, 'चित्रलेखा' स्तंभ का नाम है। स्मृति-लेखा 'सिद्धेश्वरी देवी' मीनाक्षी प्रसाद का भी नाम विषय सूची में नहीं है। राजेश कुमार का लेख "रंगमंच में स्त्री के लिए जगह" है। विषय सूची में इसका शीर्षक नहीं स्तंभ का नाम 'अम्बपाली' छपा है। विषय सूची में लेख के बजाय स्तंभ का नाम छापने से पाठक क्या समझेगा! 'हिन्दी की गीतांजलि' पर आयोजित स्त्री विमर्श के इस नए मंच का स्वागत है।

– वरिष्ठ कवि इब्बार रब्बी

'चितकोबरा' से आगे

स्त्री-लेखा के खांचे से बाहर मुक्ति की पुकार

कभी-कभी किसी लेखक की कोई कृति इतनी महत्वपूर्ण और लोकप्रिय हो जाती है कि वह लेखक की पहचान ही नहीं बन जाती बल्कि उसका पर्याय भी बन जाती है जैसे प्रेमचन्द का नाम लेते ही **गोदान** की याद आती है, रेणु का नाम लेते ही **मैला आँचल**, कृष्णा सोबती का नाम लेते ही **मित्रो मरजानी**, मन्नू भंडारी का नाम लेते ही **महाभोज**, कुछ वैसे ही मृदुला गर्ग का नाम लेते ही **चितकोबरा** का स्मरण स्वाभाविक है पर कई बार इस पहचान से लेखक अपनी एक कृति विशेष की छवि में कैद हो जाता है, इसका नतीजा यह होता है कि हम उस लेखक का सम्यक मूल्यांकन नहीं कर पाते और उस लेखक की अन्य रचनाओं पर हम बहुधा उतना ध्यान नहीं देते या उसकी उतनी चर्चा नहीं करते जितनी अपेक्षित है।

हिंदी की मूर्धन्य लेखिका मृदुला गर्ग के साथ भी कुछ ऐसा ही हादसा हुआ कि उन्हें हिंदी पट्टी में आम लोगों के बीच 'चितकोबरा' की लेखिका के रूप में अधिक जाना गया जबकि वह 'अनित्य', 'उसके हिस्से की धूप' और 'कठगुलाब' की भी लेखिका हैं पर 'चितकोबरा' शब्द मानो लेखिका से चस्पां हो गया। उनके कथा साहित्य की ओर सबका ध्यान जरूर गया पर हमलोग यह भूल ही गए कि उन्होंने साहित्य की हर विधा में लिखा लेकिन उनकी अन्य रचनाओं का उतना मूल्यांकन नहीं हुआ जितना एक कथाकार और एक उपन्यासकार के रूप में मुख्यतः उनकी पहचान बनी। उनके नाटककार, व्यंगकार और कवि रूप पर लोगों का ध्यान नहीं गया जबकि मृदुला गर्ग एक मुकम्मल लेखिका हैं। वह स्त्रीविमर्श को ही नहीं बल्कि साहित्य को भी मुक्कमल ढंग से देखती हैं और लेखकीय स्वाधीनता पर अधिक जोर देती हैं।

25 अक्टूबर 1938 कोलकत्ता में जन्मी मृदुला जी, उषा प्रियम्बद, कृष्णा सोबती और मन्नू भंडारी की त्रयी के बाद ममता कालिया, सुधा अरोड़ा के साथ मिलकर एक त्रयी बनाती हैं। इस त्रयी में एक अन्य लेखिका शामिल हो सकती थीं पर अपने राजनीतिक विचारों और स्टैंड के कारण उनकी पक्षधरता अब पूरी तरह स्पष्ट हो चुकी है लेकिन मृदुला जी राजनीतिक रूप से भी सजग, सचेत लेखिका है। पिछले दिनों हंस महोत्सव के उद्घाटन समारोह में उनका दिया वक्तव्य इस बात का प्रमाण है कि वह फासीवादी ताकतों के खतरे, बाजारीकरण और भूमंडलीकरण के कारण मानवीय संवेदना के सामने उत्पन्न संकट को बखूबी समझती हैं और न्याय के पक्ष में खड़े होना पसंद करती हैं। 1972 में सारिका में प्रकाशित उनकी कहानी 'रुकावट' के छपे 50 साल हो गए। उनके इतने विशद अवदान को रेखांकित करने के लिए हम यह विशेषांक उन पर निकाल रहे हैं और उन पर एक कार्यक्रम भी आयोजित किया। 85 वर्ष की उम्र में वह सक्रिय हैं और अपनी गरिमामयी उपस्थिति से नई पीढ़ी के लिए रोल मॉडल बनी हुई हैं। वह एक बेबाक, निर्भीक लेखिका हैं और बिना लाग लपेट के अपनी बात कहती हैं। उनकी कहानियों को आप पढ़ें तो वह भाषा और शिल्प के चमत्कार के बिना अपनी बात कहती हैं। उनकी कहानियों में पात्रों के बीच संवाद अधिक है। उनकी कई कहानियां संवाद शैली में ही लिखी गयी हैं। कुछ कहानियां इतनी छोटी हैं कि बहुत आश्चर्य भी होता है। हिन्दी साहित्य में इतनी छोटी कहानियां शायद ही किसी ने लिखी हो। दो ढाई पेज में भी उनकी कहानियां खत्म हो जाती हैं। वैसे, उन्होंने कुछ बड़ी कहानियां भी लिखी हैं लेकिन वह मूलतः आत्मस्वीकार की भी लेखिका हैं, चाहे वह विवाहेत्तर प्रेम क्यों न हों। एक टीवी चैनल के फेस्टिवल में उन्होंने स्वीकार किया कि स्त्री को भी पति के अलावा प्रेमी चाहिए। जैनेंद्र कुमार ने 50 साल पहले जो बहस चलाई थी कि पत्नी के अलावा प्रेयसी चाहिए, उसका माकूल जवाब मृदुला जी ने दिया। सबसे बड़ी बात है कि उन्होंने स्त्री के साथ-साथ पुरुषों की आजादी और मुक्ति की भी बात उठायी है। उनका कहना है कि एक गुलाम पुरुष से प्रेम की अपेक्षा करना वाजिब नहीं है। जो खुद गुलाम है, वह एक स्त्री से कैसे प्रेम करेगा। इस दृष्टि से देखा जाए तो मृदुला जी ने स्त्री विमर्श के दायरे को बढ़ाया है और उसके अर्थ का विस्तार भी किया है। मृदुला जी अभी भी मानती हैं कि हमारे समाज में यौनिकता पर बात करना दकियानूसी माना जाता है। चितकोबरा के प्रकाशन के समय उन्हें गिरफ्तारी का सामना करना पड़ा। आज स्थिति में कमोबेश कोई फर्क नहीं पड़ा है। जब गीतांजलि श्री के उपन्यास 'रेत समाधि' में यौनिकता का मामला उठाकर आगरा में कार्यक्रम नहीं होने दिया गया, तब मृदुला जी ने उस घटना का तीखा प्रतिवाद किया और एक चैनल को कहा कि 'चितकोबरा' की घटना के बाद भी स्तिथि बदली नहीं है।

इस अंक में हम शिल्पी झा के साथ उनकी लंबी बातचीत दे रहे हैं जिसमें उन्होंने कुछ ऐसी बातें कही हैं जिनसे साहित्य में विवाद भी हो सकता है लेकिन जब लेखक बेबाकी और साहस के साथ कोई बात कह रहा हो तो समाज के सामने आना ही चाहिए। मधु कंकरिया, प्रियदर्शन, हर्षबाला शर्मा आदि ने मृदुला जी पर विस्तार से लिखा है। उनके उपन्यासों पर भी इस अंक में कई आलेख हैं। उनकी कुछ कविताएं भी आप पढ़ेंगे। युवा कवि यतीश कुमार साहित्यिक कृतियों पर कविता लिखने की एक नई शैली या विधा ही विकसित की है। इस अंक में मृदुला जी के एक उपन्यास पर उनकी कविता भी आपको पसंद आएगी।

अंक किंचित विलम्ब से आ रहा है क्योंकि रजिस्ट्रॉर आफ न्यूज पेपर से टाईटिल हमें देर से मिला है और यह पत्रिका अब 'स्त्री-लेखा' के नाम से निकलेगी। यह अंक मृदुला जी पर केन्द्रित किया गया है। आशा है आपको अंक पसंद आएगा। स्त्री-लेखा की टीम को यह सौभाग्य और गौरव प्राप्त है। हम भविष्य में उन लेखिकाओं पर विशेष सामग्री देंगे जिनके लेखन की अर्द्धशती बीत चुकी है। हम एक अंक स्त्री नवजागरण पर भी निकालेंगे। नव वर्ष की मंगल कामनाओं के साथ।

-अरविन्द कुमार

स्त्री भाषा और नया संसार

कौन सोचता होगा कि जब भारत की पहली आदिवासी स्त्री राष्ट्रपति का पद पाएगी तो समाज की भाषा के संदर्भ में एक नई बात भी सामने आयेगी पितृसत्ता की आंतरिक संरचना को लेकर जो दरअसल स्त्री पुरुष को समान नहीं समझती और नहीं ही होने देती है। जिस तरह से यह भेद उजागर हुआ इस बार राष्ट्रपति के चुनाव के बाद वह गौर करने लायक है। पितृसत्ता की जड़ें सिर्फ सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में ही नहीं जमी या फैली हैं, वे हमारी भाषा पर भी राज करती हैं। स्त्री को इस भाषा में ही जगह नहीं, सिंबॉलिक ऑटोनोमी नहीं, केंद्रीयता नहीं। जिस अनभिज्ञता के साथ भारतीय लोकसभा में विपक्ष के नेता ने यह सवाल किया कि नए राष्ट्रपति को क्या कहकर संबोधित करें, इससे ही पूरी स्थिति की गंभीरता सामने आ गई।

कुछ लोगों ने जरूर इसे गंभीरता से नहीं लिया, लेकिन सत्ता पक्ष के सांसदों में एक नाराजगी तो उभरी ही थी। उन्हें नए राष्ट्रपति को राष्ट्रपत्नी पुकारे जाने का ओछापन तुरंत समझ में आ गया होगा और इसे आसानी से समझा भी जा सकता है। पितृसत्ता एक स्त्री को एक ही पुरुष की संपत्ति मानती है। शादीशुदा स्त्रियों को किसी दूसरे पुरुष से प्रेम करना घोर अपराध माना जाता है। आए दिन ऐसी स्त्रियों की हत्या की खबरें आती रहती हैं और लोगों की प्रतिक्रिया होती है कि वह स्त्री चरित्रहीन थी, हत्या जायज थी। फिर देश की राष्ट्रपति को राष्ट्रपत्नी कहना भी घोर अपराध है। फिर पत्नी तो वैसे भी मालिक नहीं, न संपत्ति की, न ही ही अपने बच्चों की। वह सिर्फ पत्नी हो सकती है वह भी एक पुरुष की। मरने के बाद यदि वह सती हो जाए तो सीधे देवी बना दी जाती है। फिर पूजी भी जाती है- उसके नाम से हाट-बाजार और मेले लगने लगते हैं। आज भी इस देश में जन्म लेते ही लड़कियों की शादी कर दी जाती है, बिना होश सम्हाले ही वह पत्नी बन जाती है। पत्नी बनने की पूरी प्रक्रिया उसे हीन बनाने के उद्देश्य से चलाई जाती है। आज भी बाल विवाह की प्रथा आखिर बरकरार ही है हमारे यहां। इस सवाल पर सोचना जरूरी है कि भाषा में स्त्री का अस्तित्व कैसे स्वीकृत हो ताकि वह ऐसी फजीहत का हिस्सा न बने। व्याकरण में वह अपने को कैसे पाए ताकि उसकी गरिमा एक स्वतंत्र व्यक्ति की हो। स्त्री अपनी एक भाषा चाहती है, यानी एक सिंबॉलिक ऑर्डर जिसमे वह किसी की छाया न हो, और इस सोच को स्त्री का पागलपन नहीं समझना चाहिए। यह जानना चाहिए कि पुरुषों की सत्ता और उनके शास्त्र भी उन्ही की तरह हैं- पितृसत्तात्मक। स्त्री को ऐसी जगह पर पहुंचना चाहिए जो उसके लिए हो, वह किसी का रिक्त स्थान भरने के लिए नहीं बनी है। स्त्रीवादी चिंतक और लेखक इसलिए एक नए संसार की कल्पना करती रहीं हैं जिसमें चिन्हों की असमानता नहीं होगी, यानी साइन भी समानता की फिक्र से पैदा किए जाए जायेंगे। एक नया सिंबोलिक ऑर्डर तैयार होगा जिसमे अभिकर्ता, यानी उसकी सब्जेक्टिविटी, पुरुषवादी नहीं होगी। सबकी जगह उनके होने के अर्थ को अनुपातिक ढंग से व्यक्त कर सकेगी। भाषा में बड़े उलटफेर की जरूरत की तरफ यहां संकेत किया जा रहा है। इस विषय पर फ्रेंच स्त्रीवादी चिंतकों ने गहरी सोच विकसित की है।

अब आप समझ सकते हैं कि महिला राष्ट्रपति को राष्ट्रमाता भी क्यों नहीं कहा जाना चाहिए। क्योंकि इसका अर्थ भी वही नहीं होगा जो राष्ट्रपिता का है। पुरुष कइयों के पति हो सकते हैं, राष्ट्र के भी पति, यानी मालिक हो सकते हैं, और इस अर्थ में वे स्वीकृत हैं, अपनी सत्ता में वे कुछ भी हो सकते हैं। पिता और पति दोनों ही रूपों में उनकी सत्ता अक्षुण्ण है। मगर एक स्त्री पत्नी और माता दोनो रूपों में बहुत अलग है। उसके ये दोनों रूप उसके चरित्र और लैंगिक भूमिकाओं से जुड़े हैं। उसका बंधन बहुत अलग है। राष्ट्रपति और राष्ट्रपिता तो बने रहेंगे अपनी बा-बहस भूमिकाओं में, राष्ट्रपत्नी और राष्ट्रमाता पर बहस नहीं हो सकती इस व्यवस्था में। इसलिए इस बहस को छोड़ ही दिया गया। इस मसले को विपक्ष की तरफ से किया गया एक ओछा व्यवहार माना गया। आखिर कौन बदलना चाहता है पितृसत्ता को! क्या होगा इसकी भाषा में लिखे गए महान साहित्य का?सारे धर्मग्रंथों का क्या होगा और उन तमाम नीतिशास्त्रों का जिनसे यह पुरुष संसार बना है जिसमे स्त्रियां रहती आई हैं। और आखिर एक टिटिहरी के रोने का क्या मतलब या स्तिथि है इस कायनात में? सभी लोग रात भर चादर तान कर सोना चाहते हैं जब वह बोलती है, उसकी तीखी आवाज को नींद में खलल डालने के अलावा और क्या समझा जाता है? लेकिन उसकी आवाज़ इतिहास में देर सबेर दर्ज भी होती है बार बार अनदेखा किये जाने के बावजूद। वही आवाज तो यहां भी खुद को दोहरा रही है। हमें एक नया संसार बनाना ही होगा जिसमे स्त्री अपनी भाषा में हो सकेगी, लिख और बोल सकेगी।

-सविता सिंह

मैं स्त्री विमर्श की लेखिका नहीं

-मृदुला गर्ग

हिंदी की प्रख्यात लेखिका मृदुला गर्ग की पहली कहानी 'रुकावट' 1972 में छपी थी और इस तरह उन्होंने इस वर्ष अपनी रचना यात्रा के पांच दशक पूरे कर लिए। इन पांच दशकों में भारतीय समाज ही नहीं हिंदी साहित्य समाज में भी काफी बदलाव आया है लेकिन मृदुला गर्ग की बेबाकी में कोई बदलाव नहीं आया है। वह अपनी बात बड़े साहस के साथ और दो टूक अंदाज़ में कहती हैं। युवा कथाकार पत्रकार एवं प्रोफेसर शिल्पी झा ने मृदुला गर्ग का लम्बा साक्षात्कार लिया है, जिसमें उन्होंने कई महत्वपूर्ण बातें कही हैं जिस पर हिंदी की दुनिया में विवाद भी खड़ा हो सकता है। यहां प्रस्तुत है मृदुला गर्ग से शिल्पी झा की बातचीत-

शिल्पी झा

अपनी लगभग पाँच दशकों की लेखन यात्रा को मृदुला गर्ग कैसे देखती हैं?

मृदुला गर्ग की तो केवल तीन किताबों का ज़िक्र होता रहा, उसके हिस्से की धूप, चित्तकोबरा और कठगुलाब। अनित्य को तो एक साज़िश के तहत लोगों ने विमर्श से बाहर रखा। मैं और मैं को मैं अपना सबसे जटिल उपन्यास मानती हूँ क्योंकि वह एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास है पर उसका ज़िक्र नहीं होता। एक बार पंकज बिष्ट ने हंस में समकालीन उपन्यास पर लेख लिखा तो मैंने उनसे कहा कि तुमसे ये उम्मीद नहीं थी पंकज बिष्ट कि तुम 'अनित्य' का नाम नहीं लोगे और तुम्हारे लेख में भी मेरे वही तीन उपन्यास होंगे। ये साज़िश थी बिल्कुल कि भई औरतों के राजनीतिक उपन्यासों का ज़िक्र मत करो। मैं तो इस मामले में बिंदास थी कि मुझे कोई पुरस्कार दे रहा हो तो मैं उसी से लड़ लूँगी। यादव जी ने मुझसे कहा कि आपने अनित्य लिखा है किसी और महिला ने कोई राजनीतिक उपन्यास नहीं लिखा। मैंने कहा कि ग़लत है, नासिरा शर्मा ने सात नदियाँ एक समन्दर लिखा है, अनित्य से पहले लिखा और मृणाल पांडे का पटरंगपुर पुराण भी एक राजनीतिक उपन्यास है। मंजुल का खातुल तो कमाल राजनीतिक उपन्यास है। पर वह तो खैर बाद में छपा था। वे बाद में मुझसे बोले कि एकदम बेवकूफ औरत हो तुम। अगर तुम्हारे उपन्यास पर कोई अवार्ड दिया जा रहा है और हम कह रहे हैं कि किसी और ने राजनीतिक उपन्यास नहीं लिखा तो तुम उनके नाम गिना रही हो। मैंने कहा आपको 'अनित्य' अगर पसंद है तो आप उसको अवॉर्ड दीजिए। इसलिए नहीं कि किसी और ने वैसा नहीं लिखा। उस वक्त तो अनित्य की इतनी धूम थी मगर फिर उसका नाम लिया जाना ही बंद हो गया। ज़ाहिर है वह बिल्कुल एक साज़िश थी।

खली ये बात आपको?

मुझे बहुत ज्यादा खली। मतलब क्या है भई। तुम एक तो मेरे राजनीतिक उपन्यासों को चर्चा से ग़ायब कर देते हो फिर मुझे स्त्री विमर्श की कथाकार घोषित कर देते हो, जो मैं हूँ नहीं। मैंने कहा तुम सब बेवकूफ हो, कुछ समझ में आता नहीं तुम लोगों को। मैं सेक्स पर नहीं लिखती। मैं उतना ही मर्द पर लिखती हूँ जितना औरत पर। मैंने तो मंच से कहा कि आप लोगों को परेशानी क्या थी जो इतना बवाल मचाया चित्तकोबरा पर? घर जाकर अपनी बीवियों से पूछ लेते। सब सच्चाई पता चल जाती।

दिक्कत ये थी कि वह स्त्री पति से संभोग के समय सोच रही थी। प्रेमी के बारे में नहीं सोच रही, मात्र सोच रही है। तो पति तो मतलब वस्तु बनकर रह गया ना। वो नाकाबिले बर्दाश्त था। अहम इतना टूटा उससे कि वो अश्लील हो गया। एक साल तक सारिका के सम्पादक भदेस पत्र छापते रहे लेकिन साहित्यिक पत्र नहीं छापे। एक रमेश बत्रा हुआ करते थे, उन्हें जैनेन्द्र जी का इंटरव्यू करने भेजा गया था, चित्तकोबरा विवाद पर। अब जैनेन्द्र जी ने जब चित्तकोबरा का लोकार्पण किया था, तो उन्होंने कहा था कि ये उपन्यास पढ़ते हुआ आदमी शारीरिकता में नहीं रहता। अब इन लोगों को कुछ समझ तो आया नहीं। उन्होंने संभोग वाला पूरा अंश कोट कर दिया कि उनके दिमाग में ये रहा होगा। अब जैनेन्द्र जी के दिमाग में क्या रहा होगा, इनको कैसे पता। फिर उसके ऊपर, सूर्यबाला ने कहा कि मैंने किताब तो नहीं पढ़ी है लेकिन इसकी बिना पर मैं कह सकती हूँ कि किताब अश्लील है। और डैफ़ोडिल जल रहे हैं के बाद उन्होने जो कुछ भी लिखा है, वह अश्लील है। पढ़ा मैंने कुछ नहीं है। फिर उन्होंने जैनेन्द्र जी का इंटरव्यू भी नहीं छापा। जैनेन्द्र जी थोड़ा बातों की जलेबी बनाते थे। उन्होंने लिखा कि लेखक को अपने प्रति भी इतना निर्मम नहीं होना चाहिए जितना मृदुला चित्तकोबरा में अपनी नायिका के प्रति रही हैं। ये एक बड़ी दार्शनिक बात थी। उन्होंने ये नहीं छापा। मेरा पत्र नहीं छापा; मंजुल भगत का खत नहीं छापा। और भी जो साहित्यिक लोग थे उनके खत नहीं छापे। अब जैनेन्द्र जी हत्थे से उखड़ गए। उन्होंने कहा कि कन्हैयालाल को अभी निकालो। फिर उन्होने माफ़ी मांगी। तब जैनेन्द्र जी ने कहा कि ऐसे नहीं, जो आदमी साक्षात्कार लेने आया था उसे वापस भेजो, फिर मैं साक्षात्कार के हर पन्ने पर हस्ताक्षर करूँगा। ताकि तुम जोड़ घटा ना सको। उसमें उन्होंने एक और बात कही कि अगर संपादक से सम हटा दो तो क्या बचता है? उसके बाद सारिका ने बहस बन्द कर दी।

इसके बाद दिनेश द्विवेदी जो इटारसी से 'पुनश्च' नाम की एक लघु पत्रिका निकालते थे, इतनी हिम्मत की कि चित्तकोबरा पर पूरा अंक निकाला। उसमें मेरा एक इंटरव्यू भी था। योगेश गुप्त से मेरी बातचीत थी। और वो सारे पत्र थे जो मैंने लोगों को लिखे थे। ऑथर्स गिल्ड वगैरह को, हालांकि किसी ने कुछ किया नहीं था। चित्तकोबरा के कुछ अंश भी थे। तो उसे बहुत धमकाया डराया कि मरवा देंगे वगैरह। पर दिनेश डरने वाले जीव नहीं थे।

टाइम्स ऑफ़ इंडिया से वामा पत्रिका तभी निकलनी शुरु हुई थी। मृणाल पांडे उसकी संपादक थी। तो उन्होंने दूसरे ही अंक में चित्तकोबरा पर लिखा। उनको भी काफी डराया धमकाया। लेकिन मृणाल को धमकाना ज़रा मुश्किल था। बाद में निर्मल वर्मा ने पुनश्च की तारीफ़ की। बाकी सारे लेखक चुप रहे, राजेन्द्र यादव भी, जो स्त्री विमर्श के पुरोधा बनते थे। मुझसे लेखिकाओं ने कहा कि आप ऐसा कीजिए, एक पत्र लिखिए, उसपर सबके हस्ताक्षर लीजिए। मैंने कहा मेरी मत मारी गई है जो मैं अपना लेखन

अगर किसी ने कहा कि एक औरत के पास बात गई तो फैल गई। तो उसमें बुरा मानने वाली कौन सी बात है? मुहावरा है कि स्त्रियाँ गपियाती रहती हैं। आइकॉन बनी खूब लड़ी मर्दानी, वह तो झांसी वाली रानी थी कविता के मर्दानी शब्द पर भी अब एक बचकानी आपत्ति उठी। इसमें क्या आपत्ति की बात है.. मर्दानी यहाँ एक रूपक है उसका मर्द से संबंध थोड़े है।

छोड़कर ये सब करूँ। अरे भाड़ में जाएं सब। जिसको जो करना है करता रहे। तो मैंने कुछ नहीं किया। जैनेन्द्र जी काफ़ी थे। यहाँ तक कि अज्ञेय जी ने भी एक बार अपने घर पर बुलाया इस विवाद के बाद तो उन्होंने कहा कि भई मैंने तो अनित्य पढ़ने के बाद चित्तकोबरा पढ़ी वरना सिर्फ़ उसपर हुआ विवाद भर पढ़ा था।

इतनी समृद्ध यात्रा की शुरुआत किस तरह से हुई?

मैंने अपेक्षाकृत देर से लेखन शुरु किया। इसलिए जिस रफ्तार से मैंने लिखा लोगों को समझ ही नहीं आता था कि अभी तो कहानी आई थी और अभी फिर आ गई। मैं अकेली रह रही थी कर्नाटक के कस्बे में, जहाँ कोई हिंदी जानने वाला नहीं था। कुछ पता नहीं चलता था कि क्या हो रहा है हिंदी पट्टी में, क्या राजनीति चल रही है। बस लिखती जाती थी। फिर कुछ इस तरह के लोग भी मिले जिन्होंने सहयोग किया, जैसे श्रीपत राय मिले। उन्हें मैंने एक कहानी भेजी 'कितनी कैदें' तो उनका पत्र आया कि आप अगर अनुमित दें तो इसको प्रतियोगिता में शामिल कर लें। मुझे तो पता भी नहीं था कि कोई प्रतियोगिता होती है कहानी पत्रिका की। उसको प्रथम पुरस्कार मिल गया। उसपर ढ़ेरों चिट्ठियाँ आई। लेकिन मुझे कभी नहीं लगा कि उन्हें संभाल कर रखूँ।

कमलेश्वर जी ने कहा कि भई आप लिखती हैं ये तो अच्छी बात है लेकिन यह कैसे मान लें कि आगे भी लिखती रहेंगी। तो मैंने उन्हें २० कहानियाँ एक के बाद एक दो वर्षों के भीतर भेजीं। उसके बाद कमलेश्वर ने एक लंबी चिट्ठी लिखी, वो भी पता नहीं कहाँ खो गई।

जब आपने लिखना शुरु किया तो स्त्रियों के लेखन को लेकर किस तरह का माहौल था?

आज जैसा माहौल नहीं था। स्त्रियों को कोई अलग करके नहीं देखता था। लेखन, लेखन था। आजकल स्त्री को बहुत अलग करके देख रहे हैं। जब अनित्य छपा तो ये सवाल नहीं था कि स्त्री ने लिखा है। मन्नू जी ने महाभोज उन्हीं दिनों लिखा। बल्कि अनित्य, महाभोज के एक साल बाद छपा।

प्रभा खेतान की पीली आँधी भी उन्ही दिनों आई थी?

हाँ, लेकिन लेखन को स्त्री लेखन बनाने में प्रभा खेतान का भी हाथ था। जब उन्होने अपनी निजी बातें कहनी शुरु कीं और उसके बाद मैत्रेयी पुष्पा आईं और फिर राजेन्द्र यादव जी ने स्त्री विमर्श का झंडा उठाया, उसके बाद ये सब ताम-झाम शुरु हुआ।

अपने समकालीनों को पढ़ते वक्त कभी ऐसा लगा कि ये कहानी अगर किसी स्त्री ने लिखी होती तो अलग तरह निकल कर आती?

बिल्कुल नहीं। मैंने कभी ऐसा सोचा ही नहीं। जैनेन्द्र जी ने कभी कहा था कि स्त्री के मन को समझना बड़ा कठिन काम है। मैंने कहा, कमाल करते हैं जैनेन्द्र जी, जैसे पुरुष के मन को समझे बैठे हैं। मतलब इस तरह से नोंक-झोंक तो होती थी लेकिन ये मैंने कभी नहीं सोचा कि इसको फलां लिखतीं तो अलग बात होती। जिसने जो लिखा, उसमें आप एक शब्द इधर से उधर नहीं कर सकते। मतलब अगर किसी ने कहा कि एक औरत के पास बात गई तो फैल गई। तो उसमें बुरा मानने वाली कौन सी बात है? मुहावरा है कि स्त्रियाँ गपियाती रहती हैं। आइकॉन बनी खूब लड़ी मर्दानी, वह तो झांसी वाली रानी थी कविता के मर्दानी शब्द पर भी अब एक बचकानी आपत्ति उठी। इसमें क्या आपत्ति की बात है.. मर्दानी यहाँ एक रूपक है उसका मर्द से संबंध थोड़े है। बाद में यादव जी कहा करते थे कि दो लेखिकाएँ हैं, जो कहती हैं कि हमें स्त्री लेखकों में मत गिनो, एक कृष्णा सोबती और एक मृदुला गर्ग।

बाकियों ने धीरे-धीरे स्वीकार कर लिया?

हां, बिल्कुल। अब इतना बड़ा फ़ायदा है इसमें कि बुरा भी लिखो तो एक पेडेस्टल तो मिल ही गया ना। जो लिखती थीं उनका तो मूल्यांकन हुआ नहीं। अब मेरे उपर लिखने के लिए इनको पुरुष नहीं मिल रहे। लेकिन जो अटरम-शटरम लिखती थीं, वो सब लेखिकाओं की श्रेणी में आ गईं। भले ही स्त्री लेखिका की तरह। नहीं तो कौन पूछता उनको? हमारा तो मूल्यांकन किसी ने नहीं किया। मनोहर श्याम जोशी ने किया और वह बहुत बड़ी बात थी कि उन्होंने किया। कठगुलाब मैंने बेटे की मृत्यु के बाद पूरा किया था। लिखना पहले शुरु किया था, तीन चौथाई लिख चुकी थी जब वो हादसा हुआ। उसके बाद पूरा लिखा धीरे-धीरे, पर मैंने किसी को दिया नहीं। मंजुल ने पांडुलिपि भारतीय ज्ञानपीठ को दे दी और वहाँ से छपकर आई किताब। मनोहर श्याम जोशी ने सबसे पहले पढ़ा फिर उन्होंने वाशीष शुक्ल, निर्मल वर्मा, अशोक वाजपेयी सब लोगों को पढ़ाया। कठगुलाब, गॉड ऑफ स्मॉल थिंग्स के साथ यानी एक ही वर्ष में छपी थी। लेडी श्रीराम कॉलेज में एक गोष्ठी थी, जिसमें जोशीजी ने कहा कि कठगुलाब, गॉड ऑफ़ स्मॉल थिंग्स से बेहतर उपन्यास है तो तहलका मच गया। जोशीजी कहते थे कि कठगुलाब हिंदी का अकेला उत्तर आधुनिक उपन्यास है। और वो कहते थे कि मैंने इतने लोगों को पढ़ाया लेकिन भोपाल स्कूल के कान पर जूँ तक नहीं रेंगी। यूं कि मैं अशोक वाजपेयी को मस्का नहीं लगाती थी। मैंने तो अशोक वाजपेयी से यह भी कहा था कि ये क्या बकवास पढ़ाते हैं आप अन्तर-राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय में?जो सब पढ़ाते हैं वही आप भी पढ़ाते हैं, उससे क्या फायदा हुआ? आप कुछ मौलिक काम करवाइए तब तो कोई फायदा हो ना, हिंदी विश्वविद्यालय होने का। आप राजनीति पर, समाज पर, गणित पर हिंदी में कुछ मौलिक काम करवाइए तब कोई फायदा हो। और सबके सामने कहा। वे चुप रहे।

बाद में बोले वहाँ से सब नकचढ़े निकलेंगे। मैंने कहा नककटे ना निकलें बस। वो तो दिल्ली में रहते

थे, फिल्में बनाते रहते थे। हाँ, जो भी उन्हें पसन्द थे, स्त्री पुरुष दोनों पर।

पर आम धारणा यह है कि जो पुरुष लेखक हैं वो तो हुए लेखक, स्त्रियाँ घुसपैठिया हो गईं। लेकिन मेरे लिए, मंजुल भगत के लिए और कृष्णा सोबती के लिए कोई यह कहने की हिम्मत नहीं कर सका कि ये स्त्री लेखक हैं। वो तो जब चित्तकोबरा अश्लील डिक्लेयर हो गई तो सबने कहना शुरु किया कि अगर किसी पुरुष ने लिखा होता तो दिक्कत नहीं होती। स्त्री ने लिखा है तो बवाल हो गया।

मतलब आपको एक तरह से खींच कर स्त्री लेखन के खेमे में डाल दिया गया?

बिल्कुल। और डाला ही नहीं मुझे उसका पुरोधा बना दिया गया। जब मैंने कठगुलाब लिखा तो तंज़ मेरी नस-नस में भरा हुआ है। मैंने सोचा कि लोग स्त्री विमर्श कहते तो रहते हैं, पर उस पर, उसके पात्रों पर बात तक नहीं करते। तो मैंने सोचा कि एक उपन्यास स्त्रियों पर लिखें जिसमें लोग बाकायदा उसपर चर्चा करें। उसके बाद, उसके आखिरी अध्याय में विपिन आ गए तो उपन्यास फिलॉसॉफिकल हो गया। उसमें मारियान वाला जो अध्याय है, वो मैंने पहले नहीं लिखा था। शुरु में लोग मेरी हर बात को वेस्टर्न सेंसिबिलिटी कह देते थे। यही होता है हमारे यहाँ कि अगर आपको कोई बात समझ ना आए तो वो वेस्टर्न है। तो लगा होगा। मुझे कई वेस्टर्न किरदार मिले। सारे किरदारों में मारियान ही ऐसा किरदार है जो मुझे जीवन में मिली थी। मतलब तीन-चार लोगों का मिला-जुला चरित्र है लेकिन मैं उन सबसे मिली थी। बाकी सारे चरित्र काल्पनिक हैं। तो बाद में सबको सबसे अच्छा मारियान का हिस्सा ही लगा।

मारियान वाले हिस्से में अमरीकी लेखकों का ज़िक्र था जिन्होंने अपनी पत्नियों की रचनाएँ अपने नाम से छपवाई। हिन्दुस्तानी साहित्य संसार में ऐसा कुछ आपके आसपास घटा?

मैंने देखा तो नहीं। स्कॉट फिटजेराल्ड का तो जाना माना किस्सा है। लेकिन एक बात कॉमन थी कि लेखक अपनी पत्नियों को आगे नहीं आने देते थे; अगर दोनों लिखते थे। जैसे मन्नू जी बहुत बाद में आगे आईं, पहले राजेन्द्र जी ही छाए हुए थे। मन्नू जी को आगे आने नहीं देते थे। फिर जब यादव जी का लेखन करीब करीब बंद हो गया तो उन्होंने अपनी तमाम ऊर्जा मन्नू जी के प्रचार में लगा दी।

मोहन राकेश ने तो खैर अपनी पत्नियों का बंटाधार ही कर दिया था। रवीन्द्र कालिया बहुत अच्छे लेखक थे लेकिन आलसी थे, कम लिखते थे। रानाडे रोड उनका उपन्यास बहुत अच्छा है लेकिन उतना चर्चित नहीं हुआ। लेकिन वे एक ऐसे शख्स थे जिन्होंने ममता को कभी रोका नहीं और ना ही उसे कभी कमतर बनाने की कोशिश की। तो ममता खूब चमकीं। अब तो उनके हवाले से भी ममता खूब लिख रही हैं क्योंकि वो तो जानती थीं ना कि रवीन्द्र जी का टैलेंट किस स्तर का है।

तो पत्नी का लिखा पति ने अपने नाम से छपवा लिया, ये तो नहीं देखा लेकिन पत्नी को आगे बढ़ने नहीं देना, ये सबके साथ हुआ। अज्ञेय तक ने नहीं लिखने दिया। कपिला (वात्सयायन) तो इतनी बड़ी शख्सियत थीं कि उनके साथ उनका रहना हो ही नहीं सकता था ज्यादा दिन, ये सबको पता था। लेकिन इला जी ने एक दिन डरते-डरते अपना लिखा मुझे और मुंजल को दिखाया। अच्छा लिखा था लेकिन उन्होंने कहा कि अज्ञेय को पसंद नहीं आया। अब वे छपवा लेतीं तो लोग खुद ही तय कर लेते कि कैसा है लेकिन अज्ञेय ने उन्हें इतना ज्यादा हतोत्साहित किया कि वह छपा ही नहीं कभी। मोहन राकेश जी की पत्नी अनीता तो अच्छा लिखती थी लेकिन किसी को नहीं पता उसके बारे में। धर्मवीर भारती की पहली पत्नी ने किताब लिखी, दूसरी ने तो लिखा नहीं। प्रेमचंद ने ही अपनी पत्नी को क्या बनने दिया? कुछ नहीं। चुराकर नहीं लिखा लेकिन सभी लेखकों ने पत्नियों को दबाकर ज़रूर रखा। तो जब किसी को लिखने ही नहीं दिया तो कैसे समझें क्या लिख डालतीं। मगर उतना बुरा हाल किसी का नहीं था जितना रविशंकर ने अपनी पत्नी का किया था।

दूसरी बात जो मुझे नागवार गुज़री, वह थी कि प्रसिद्ध साहित्यकारों के बच्चे केवल पिताओं के काम करते रहे या उन्हीं के नाम से जाने जाते रहे। अमृतलाल नागर के बेटे से एक दिन मंजुल ने पूछा, 'नागर जी, आजकल क्या लिख रहे हैं?' तो वे अपने पिता के लेखन के बारे में बताने लगे।

नेहरू जी, मृदुला गर्ग और मंजुल भगत

दोस्त तो मेरी कोई नहीं बनी। पुरुष लेखक मेरे दोस्त थे कई, स्त्री कोई नहीं। एक सुनीता जैन मेरी दोस्त बनी पर वो भी अलग कारणों से, मेरे बेटे की मृत्यु के बाद। क्योंकि मुझे लगा कि उसके अंदर समझने का जज्बा है। कोई लेखिका दोस्त नहीं बनी।

अपने साथ की लेखिकाओं से आपका रिश्ते कैसे थे?

ठीक थे। दोस्त तो मेरी कोई नहीं बनी। पुरुष लेखक मेरे दोस्त थे कई, स्त्री कोई नहीं। एक सुनीता जैन मेरी दोस्त बनी पर वो भी अलग कारणों से, मेरे बेटे की मृत्यु के बाद। क्योंकि मुझे लगा कि उसके अंदर समझने का जज्बा है। कोई लेखिका दोस्त नहीं बनी। चित्रा से रिश्ता बना लेकिन जब बच्चे ही नहीं रहे तो क्या बचता। शादी हुई, नौ महीने बाद बच्चे चले गए। शुरु-शुरु में कोई समथन कहता था तो छुरा सा लगता था। फिर खुद को समझाया कि चलो ये भी संबोधन है। फिर हमारा लेखन भी एक-दूसरे से अलग है बिल्कुल। मैं विद्रोही हूँ, वो दक्षिणपंथी रुझान की हैं। मैंने कभी किसी से कोई रिश्ता नहीं जोड़ा। किसी को भाई-भाभी नहीं कहा। कोई मेरा देवर-जेठ नहीं बना। सबके नाम के आगे जी लगाती थी। मैं बाहरी थी बिल्कुल। हिन्दी साहित्य जगत की किसी रिवायत का पालन नहीं करती थी। मैंने किसी को दीदी नहीं कहा, केवल मंजुल को कहा क्योंकि वो बचपन में मुझसे मार-मारकर कहलवाती थी।

निर्मला जैन ने चित्तकोबरा के बारे में बहुत निन्दक बोला। उसके बाद जब मेरी कहानियों के संचयन संगति-विसंगति का लोकार्पण हुआ तो मैंने उनसे कहा कि आप लोकार्पण करेंगी, मनोहर श्याम जोशी अध्यक्ष थे। वे भौंचक रह गईं। निर्मल वर्मा और कमलेश्वर बोल रहे थे। मैंने उनसे कहा कि मुझे विश्वास है आप झूठ नहीं बोलेंगी। उन्होंने बाकायदा मंच से कहा कि, 'मैंने समझने में ग़लती की मृदुला गर्ग की कहानियों को। खासकर कितनी कैदें के बारे

में जो मैंने कहा वो ग़लत है। कहानी मनोवैज्ञानिक रूप से सही है।' ये सब मंच से बोल दिया पर थोड़े समय बाद फिर पलट लीं।

मैंने तीसरी कहानी लिखी थी 'अवकाश'। उसका अ फ्यू आवर्स नाम से अंग्रेज़ी में खुद ही अनुवाद किया था। उन दिनों ईस्ट जर्मनी में हिंदी की अनूदित किताबें खूब छपती थीं। उन्होंने लव स्टोरीज़ फ्राम इंडिया के नाम से कहानी संग्रह छापा। उसमें एक कहानी यशपाल की भी थी तो उसके नाम से संग्रह का भी नाम रखा गया लेकिन फ्लाई लीफ पर जो उद्धरण दिया, वह मेरी कहानी से था। उसपर हिंदी वालों ने बड़ा हंगामा किया, कहाँ यशपाल और कहाँ मैं। उन दिनों मेरे यहाँ एक आदमी काम करता था। उसका कैटेरैक्ट का आपरेशन होना था। पाँच सौ रुपए में उन दिनों होता था ऑपरेशन। मैंने उससे कहा कि हिंदी वाले तो कुछ देते नहीं। इस कहानी का अनुवाद हो जाए तो मैं तुमको पैसे दे दूँगी। टाइम्स ऑफ इंडिया में हुआ। उन्होंने चौदह कहानियों का अंक छापा। हज़ारों की तादाद में कहानियाँ आई उनके पास। उनमें मेरी कहानी भी थी। बाकी तो कृष्ण बलदेव वैद, लंकेश, अनंतमूर्ति वगैरा थे। बाद में टाइम्स ऑफ इंडिया वालों ने मुझे एक कॉलम भी लिखने को कहा था। अहम कहो, अंहकार कहो मैंने मना कर दिया कि हर हफ्ते कौन लिखेगा। अब उस संग्रह में हिंदी की कहानियाँ ज्यादा थीं। इतना बावेला मचा कि उन्होंने अगला इश्यू निकाला ही नहीं।

इन दिनों ऐतिहासिक, पौराणिक पात्रों का स्त्रियों के नज़रिए से पुनर्लेखन किया जा रहा है। स्त्रियाँ जब स्त्री पात्रों के बारे में लिखती हैं तो किस तरह का नयापन आता है?

पौराणिक चरित्रों पर लिखना आसान होता है। मज़ाक में गिरीश कर्नाड कहा करते थे कि मैं पौराणिक कथाओं पर इसलिए लिखता हूँ क्योंकि मुझमें कल्पनाशीलता की कमी है। ज़रूरी है कि उनका डी-कन्सट्रक्शन किया जाए। अब ये प्रयोग के तौर पर तो ठीक है लेकिन कितना जोड़ता है साहित्य में, इसके बारे में मैं पक्के तौर पर कुछ नहीं कह सकती। मैंने अनामिका की आईनासाज़ पढ़ी थी। उसमें पहला हिस्सा जो अमीर खुसरो पर है, बहुत बढ़िया लिखा है। दूसरे भाग की लिदी बन गई है। अगर ठीक वैसा पात्र आप आधुनिक समय में लेते और उसी तरह की कुछ घटनाएँ होतीं फिर तो जीनियस हो जाता ना। वो हुआ नहीं। सुमन केशरी की गांधारी मैंने पूरी पढ़ी है, उसमें धृतराष्ट्र का जैसे उन्होंने चित्रण किया है कि उनकी कुंठाएं क्या थीं और किन हालात में गांधारी ने पट्टी बाँधी। इसलिए नहीं कि वो पतिव्रता थीं बल्कि इसलिए कि वो हर वक्त कटाक्ष करते रहते थे उनके उपर। वो हिस्सा कुछ नया जोड़ता है। बाकी तो सब वही उपर। वो हिस्सा कुछ नया जोड़ता है। बाकी तो सब वही पुराना है कि भीष्म को तुम महान बना रहे हो। कहीं डीकन्सट्रक्ट नहीं कर रहे। वेदव्यास ने महाभारत के लिए कह दिया कि जो यहाँ नहीं है कहीं नहीं है और जो कहीं भी है यहाँ है। उन्होंने खुद कहा ना, पाठकों ने तो नहीं कहा। लेकिन सबने मान लिया, सदियों से माने चले जा रहे हैं। वो तो कोई भी कह सकता है अपनी किताब के लिए। प्रश्न उठाने वाला कौन है?जिसको एक बार उन्होंने धर्म का प्रवक्ता बना दिया, उसके दोष कोई नहीं देख रहा। युधिष्ठिर धर्मराज ही रहे चाहे पत्नी को जुए में खेल गए। भीष्म ने दुनिया भर की गिलाज़त की। उनके दुर्गुण बतलाए ही नहीं गए। मैं कविता कम लिखती हूँ लेकिन 'इच्छित मृत्यु' एक कविता लिखी मैंने गांधारी के पहले दो पन्ने पढ़ने के बाद ही। मेरे हिसाब से कुंती जैसी निष्ठुर और स्वार्थी औरत सोचने पर भी नहीं मिलेगी। बेटे को जन्म देकर भूल गई और बाद में कर्ण के पास पहुँच गई दान में पुत्र रक्षा के लिए, बिना शर्म के। मगर कहीं महाभारत में कुंती को इस तरह नहीं दिखाया गया। किस अधिकार से कर्ण के शव पर रो रही हैं? कितना बड़ा तंज़ था कर्ण का कि तुम्हारे पाँच पुत्र रहेंगे क्योंकि तुम्हें किसी इंसान से प्यार नहीं है, तुम्हें तो पाँच पुत्र चाहिए।

मैंने सुमन से कहा भी कि तुम गांधारी के सौ पुत्र कैसे ले आई? वो तो मिथक था, उसको तो हटाती ना। पिंड के टुकड़े हुए तो बच्चे निकले, क्या बकवास है। अंग्रेज़ी वाले ज्यादा लिख रहे हैं मसाला बना कर। बल्कि जो डीकन्सट्रक्शन किया था वो नबनीता देव सेन ने किया था। आज लिखतीं तो उनको गिरफ्तार कर लिया जाता। उन्होंने लिखा कि जब सीता धरती में समा गईं और राज्य का बँटवारा हो गया तो लक्ष्मण के हिस्से में जो राज्य आया वहां उनके बच्चे बीफ-वीफ खाते थे। राम के राज्य में शाकाहारी थे सब। जब लव-कुश उनके राज्य में गए तो उन्होने कहा कि ये तो बहुत बढ़िया खाना खाते हैं। फिर पता लगा कि गोमांस है। आज लिखतीं तो छपता ही नहीं। वो डीकन्सट्रक्शन था। लेकिन जैसा अमीष त्रिपाठी ने कहा है, मैं तो पंडित का बेटा हूँ, मेरा सब घोंटा हुआ है। लेकिन ये जो नई पीढ़ी है उसको कुछ नहीं पता, मैं उनके लिए लिख रहा हूँ।

पौराणिक चरित्रों पर लिखना आसान होता है। मज़ाक में गिरीश कर्नाड कहा करते थे कि मैं पौराणिक कथाओं पर इसलिए लिखता हूँ क्योंकि मुझमें कल्पनाशीलता की कमी है। ज़रूरी है कि उनका डी-कन्सट्रक्शन किया जाए। अब ये प्रयोग के तौर पर तो ठीक है लेकिन कितना जोड़ता है साहित्य में, इसके बारे में मैं पक्के तौर पर कुछ नहीं कह सकती।

रेत समाधि और गीतांजलिश्री की इन दिनों काफी चर्चा है, होनी भी चाहिए। लेकिन उनकी भाषा को लेकर जिस तरह से आलोचना हो रही है वो दयनीय है। क्या हिंदी लेखक-पाठक समाज भाषा में प्रयोग देखने का आदी नहीं है?

कैसे नहीं है? मनोहर श्याम जोशी को देखो, किस तरह के प्रयोग किए भाषा के साथ? कसप में कितनी विविध भाषाएँ बोलते हैं उनके पात्र। एक ही पात्र अपनी पत्नी और भावी दामाद से अलग भाषाओं में बात करता है। हमज़ाद की भाषा देखो क्या कमाल की है। दूसरी ओर कृष्णा सोबती ने क्या भाषा गढ़ी है। ज़िंदगीनामा में। और जैनेंद्र!! कोई कभी नकल कर ही नहीं सकता। मंजुल की भाषा भी बहुआयामी है। उर्दू हिन्दी एकमेक हो जाती हैं। अब पढ़ने वाले बेअक्ल हों तो कोई क्या करे?अब गीतांजलिश्री की भाषा थोड़ी दुरुह ज़रूर है, उसके मन में इतनी उलझनें हैं, उसके पात्रों के मन में इतना गड्ड-मड्ड है कि सब वैसे ही पन्ने पर उतरते चले जाते हैं। उसे समझने के लिए पहले उसके पात्रों और परिवेश को समझना होगा। भाषा पात्रों के हिसाब से रची जाती है, उनके परिवेश के हिसाब से कही जाती है। गीतांजलि का लेखन देखो, कैसे हर उपन्यास के साथ उसकी भाषा बदलती गई है।

मंजुल भगत के साथ

हिंदी साहित्य के कई मठ रहे, गढे गये लेकिन सबकी कमान पुरुषों के हाथ में रही?

वो तो है लेकिन ऐसा नहीं है कि केवल पुरुषों ने मठ बनाए। लेखिकाओं में भी एक तिकड़ी थी। मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती और उषा प्रियंवदा के अलावा निर्मला जैन किसी को कुछ समझती ही नहीं थीं। मन्नू जी को मैं औसत लेखक मानती हूँ। उषा विदेश में रहीं। और कृष्णाजी तो कृष्णा जी थीं। उनके अलग तौर-तरीके थे। वो किसी की सुनती नहीं थीं। हालांकि जो लोग उनके काम के होते थे उन्हें वो हर तरीके से खुश रखती थीं, खिलाने-पिलाने से लेकर हर तरह से। लेखक के तौर पर मैं उनका बहुत सम्मान करती हूँ। उनकी ज़िंदगीनामा आई तो जैनेन्द्र जी ने मुझसे कहा कि भई उन्हें साहित्य अकादमी देना था तो दे दिया लेकिन उनकी ये किताब मेरी समझ में नहीं आई। बहुत पंजाबी है उसमें, तुम पढ़कर देखो। अब ये बात किसी ने कृष्णा जी से मेरे हवाले से कह दी कि मैंने ऐसा कहा है। फिर एक आयोजन में वे मुझसे मिलीं। तब तक मैंने ज़िंदगीनामा पढ़ी नहीं थी, उस दिन मेरे हाथ में ज़रूर थी। उन्हें मैंने बधाई दी तो उन्होंने मुँह लटका कर कहा कि किस बात की बधाई, आपने तो पढ़ी ही नहीं, आपको तो बहुत ज्यादा पंजाबी लगी उसमें। अब ऐसा ही है हमारा हिंदी समाज। कौन, कब, किस हवाले से किसको क्या कह दे कुछ समझ में नहीं आता। मैंने उस दिन मंच से कहा कि कृष्णा जी आपसे मेरी एक शिकायत है, आप मित्रो को वापस क्यों लाईं। तो वो बात उनको नागवार गुज़री। एक बार मैंने एक अंग्रेज़ी इंटरव्यू में कह दिया कि कृष्णा जी एक नॉन सेरेब्रल लेखिका हैं। तो वो लड़की जिसने मेरा इंटरव्यू किया था उसने दो बार पूछा कि आप कुछ बदलना चाहेंगी इसमें। मैंने उसको पूछा कि तुम साफ़-साफ़ कहो क्या कहना है। फिर उसने उस शब्द के बारे में पूछा, तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि इसमें क्या ग़लत है भाई। तब उसने कहा कि आपको नहीं पता कृष्णा सोबती इस पर भी मुकदमा कर सकती हैं। तब मैनें शब्द तो नहीं हटाया लेकिन उसको बदलकर दूसरी तरह से समझा ज़रूर दिया। खैर, जो भी हो, लेखक के तौर पर मैं उन्हें बहुत पसंद करती हूँ और उनका बहुत सम्मान करती हूँ।

तो मैं इन सबके लिए बाहरी थी, किसी से कोई नाता-रिश्ता नहीं। बेलाग भी थी, जो कहना हुआ सामने कह दिया। राजेन्द्र जी कहा करते थे कि शुरु-शुरु में तुम्हें देखकर मुझे लगता था कि इस औरत से मैं अफेयर कर सकता हूँ लेकिन फिर समझ में आया कि इसको हाथ नहीं लगा सकते।

आपकी अकादमी पुरस्कार वाली किताब मिलजुल मन आत्मकथात्मक है। लेकिन बाकी उपन्यास के किरदार भी काफी कुछ आपके जीवन से लिए गए हैं।

अब ये इन बेवकूफों की समझ में थोड़े ही आता है। मैंने कई बार खुलकर कहा भी कि जब चित्तकोबरा लिख दी तो आत्मकथा लिखने की क्या ज़रूरत है तो भी किसी की समझ में नहीं आया। यहाँ तक कि एक बार राजेन्द्रजी और मैं किसी आयोजन से आ रहे थे और मेरे पति, आनंद ड्राइव कर रहे थे तो राजेन्द्र जी ने आनंद के सामने ही पूछा कि भई, यह जो चित्तकोबरा में हरी भूरी आँखों वाला किरदार है, वो कौन है? मैंने कहा कोई भी हो सकता है, आप भी! उसके बाद उन्होंने नायिका कौन है के बारे में सवाल नहीं किया। वैसे भी शायद न करते। 'उसके हिस्से की धूप' के बाद भी किसी ने कुछ नहीं पूछा क्योंकि सोचा होगा कि मेरा तो तलाक हुआ नहीं है। ऐसे सतही तौर पर सोचते हैं हमारे पढ़ने वाले लोग। 'मैं और मैं' जिसे मैं अपना सबसे जटिल और बेहतरीन उपन्यास मानती हूँ, जो पूरी तरह मनोवैज्ञानिक उपन्यास है, उसमें भी जो लेखक है, उसे लेकर सबने खूब अटकलें लगाईं। मुझसे पूछा करते फलां के ऊपर किरदार बनाया क्या?फलां इंसान है क्या?लेकिन लेखिका कौन है, किसी को नहीं जानना था। 'मिलजुल मन' को बस आत्मकथात्मक उपन्यास बना दिया सबने। उसका जो मूल है, जो करुणा, जो विद्रूप है उसमें, वो किसी ने नहीं देखा। खैर..

आपके मुताबिक आपकी कौन सी रचना साहित्य अकादमी डिज़र्व करती है?

कठगुलाब। उसी को मिलना चाहिए था। जब उसको नहीं दे पाए तो 'मिलजुल मन' को देकर उसकी भरपाई कर ली। जैसे मनोहर श्याम जोशी को कुरु-कुरु स्वाहा के लिए मिलना चाहिए था, उसे नहीं दिया, फिर कसप को भी नहीं दिया तो क्याप को देकर भरपाई कर ली।

मौजूदा पीढ़ी में आपकी मनपसंद लेखिका कौन है?

बहुत ज्यादा तो मुझे कोई पसंद नहीं। मधु कांकरिया का लिखा पसंद आता है हालांकि वो बिल्कुल नई पीढ़ी की नहीं कही जाएंगी। एक और लड़की है दिव्या विजय जिसकी कहानियाँ मुझे पसंद हैं। लेकिन वो भी शुरुआत वाली। जब वो अपनी तरह का लेखन करती थी। एक अफ़गानिस्तान पर कहानी है उसकी, यारेग़ार, जो नया ज्ञानोदय के कहानी विशेषांक में छपी थी, वो मुझे बहुत अलहदा और ज़बरदस्त कहानी लगी थी। हालांकि बाद में, और ये बात मैंने उसको बतलाई भी है, वो भी थोड़ा बहुत बनी-बनाई लीक पर चलने लगी। बाज़ार और प्रकाशक ही नहीं, पाठक और तथाकथित समीक्षकों का दबाव भी रहता है। चलन से अलहदा रहने में बदचलनी का आरोप लगने का काफ़ी ख़तरा है!!

अगले एक दशक में आप किस तरह का लेखन हिंदी में देखना चाहेंगी?

अपने समय की बात लिखें लोग। आज के राजनीतिक परिवेश को समझें, विदेश में जो युवा जा बसे हैं, उनकी क्या चुनौतियाँ हैं, किस तरह का रिश्ता है उनका अपने देश है, अपने देश की मौजूदा राजनीति से, उस पर लिखें। अपना देखा, भोगा हुआ लिखें तो कुछ बात बने। कुछ नया रचा जाए। लेकिन आज का माहौल कुछ अजीब ही है ... अब अगर नाला सोपारा जैसी किताब को साहित्य अकादमी मिल सकता है तो भई कुछ भी हो सकता है।

दिल्ली कितनी बदली इतने सालों में?

बहुत। दिल्ली अब वो दिल्ली रही कहाँ। पहले रात-रात भर महफ़िलें जमती थीं। पुरानी दिल्ली से लेकर नई दिल्ली तक। मुशायरे होते थे, कवि सम्मेलन होते थे, संगीत सभाएं होती थीं, जो रात रात भर चला करती थीं। शास्त्रीय संगीत की बैठकों में भी खूब लोग जुटा करते थे। कवि सम्मेलन में तब निराला से ले कर बच्चन और बाद में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय, जैसे साहित्यिक कवि कविताएं पढते थे। आज तो उसे बाज़ारू या हास्य कविता तक सीमित कर दिया गया है। पायेदार कवि नहीं आते। मैं समझती हूँ सबसे ज़्यादा नुकसान हिन्दी संस्कृति और पाठन का हुआ है।

कुछ हद तक रेख्ता की जद्दोजहद से मुशायरों का स्तर अब भी बना हुआ है। चोटी के शायर भी आने से परहेज़ नहीं करते। दाद देने में भी पहले जितना तो नहीं पर कुछ सलीका, तहज़ीब और जानकारी का इज़हार होता है।

मुशायरों में जाने का ख़ास क़ायदा था। सभी महिलाएं मोगरा या चमेली या मोतिया के फूलों की बनी वेणियाँ खरीदतीं। जो बालों में न लगा पातीं, वे कलाई में बाँध लेतीं। मैंने तो अपने बाल १९६७ में कटवाये, उससे पहले खूब बडा जूड़ा बनाती थी। तो बाक़ायदा वेणी जूडे पर सजाती। मेरी बहन और लेखक मंजुल भी। मुझे याद है, एक बार हम खरीद न पाईं तो फ़ौरन एक चचा ने टोका, तुमने भाभी जी से मुशायरे में जाने का सलीका न सीखा!

इसके अलावा घरों पर भी संगीत सभा, कवि गोष्टी, शेरो शायरी की बैठकें हुआ करती थीं। हमारी माँ को तो मिराक़ था और गहरी समझ भी। किसी औरत की शख़्सियत की तारीफ़ में कुछ कहना होता तो कोई भोंडा जुमला बोलने के बजाय, उम्दा शेर कहा जाता।

अब तो हिन्दी ज्यादा लोग पढ़ते ही नहीं, बल्कि पढ़ने-बोलने में अपनी हेठी समझते हैं तो दाद क्या ख़ाक देंगे। अंग्रेज़ी में 'वेरी गुड' कह देंगे। तौबा!

वही नहीं, बाज़ार की बढ़त सभी शहरों की तरह दिल्ली में भी हुई है। दिल्ली की पुरानी मशहूर 'दौलत की चाट' यानी प्राकृतिक रूप से सर्दी की रातों में दूध के फ़ेन को जमा कर बनाया बनारस का मलैये या 'निमिष' नाम का नफ़ीस मीठा खाने के लिए, किसी ख़ास नुमाईश का इन्तज़ार करना पड़ता है। या चांदनी चौक जाने का। खैर अब मेट्रो ने कुछ सुविधा कर दी है। ऐन सेंट्रल बैंक की पकौड़ी की दूकान पर स्टेशन बना दिया है। साफ सफ़ाई भी हो गई है। पर फ़ब्बारों से घिरी वह दिलफ़रेब फ़िज़ा अब कहाँ?

आख़िरी सवाल, इन दिनों आप क्या लिख रहीं हैं और वो हमें कब पढ़ने को मिलेगी?

अगली किताब, 'वे नायाब औरतें', तैयार है। वाणी को मैंने प्रकाशन के लिए दे दी है। अब कब आएगी ये उनके हाथ में है। ●

नाज़ुक ख्याली और इंक़लाब के यकसां उस्ताद टैगोर, इक़बाल और फ़ैज़

मृदुला गर्ग

टैगोर और इक़बाल एक अर्थ में समकालीन माने जा सकते हैं हालांकि दोनों की उम्र में 16 साल का अंतर था। टैगोर 1861 में पैदा हुए थे और इक़बाल 1877 में। फिर भी चूंकि दोनों ने 1857 की क्रांति और 1947 में आजादी मिलने के बीच के वक्फ़े में जन्म लिया तो आज़ादी के आंदोलन में भागीदारी ही नहीं, बल्कि अगुआई भी की। जनसाधारण पर उनका प्रभाव कविताओं, उपन्यासों और लेखों की मार्फत पड़ा, जिनसे वे स्वाधीनता पाने के लिए लालायित हुए और उसके लिए संघर्ष करने के लिए तैयार।

पर दोनों ही आज़ादी मिलने तक जीवित नहीं रहे। इक़बाल का इन्तक़ाल लाहौर में 21 अप्रैल 1938 को हुआ और टैगोर का कोलकाता में 7 अगस्त 1941 को। हालांकि इक़बाल का इन्तक़ाल आज़ादी मिलने से नौ साल पहले हो गया था पर हुआ लाहौर में, जो तक्सीम के बाद पाकिस्तान में गया। उनका जन्म भी सियालकोट में हुआ था और वह भी पाकिस्तान का हिस्सा बना। वक्त होने पर, उन्हें पाकिस्तानी नागरिक ही नहीं पाकिस्तान का राष्ट्रीय कवि भी घोषित किया गया।

दरअसल 1930 में भारत के विभाजन और पाकिस्तान की स्थापना की माँग सबसे पहले इक़बाल के ही नेतृत्व में मुस्लिम लीग ने उठाई थी। इसके बाद मुहम्मद अली जिन्ना भी लीग में शामिल हुए और उन्होंने पाकिस्तान की स्थापना के लिए काम किया। (इक़बाल का 1938 में इन्तक़ाल हो गया और जिन्ना काम करते रहे।) इसीलिए उन्हें शायर-ए-मशरीक़ (पूरब का शायर) और हकीम-उल-उम्मत (उम्मा का विद्वान) के अलावा मुफ़्फ़िकर-ए-पाकिस्तान (पाकिस्तान का विचारक) भी कहा जाता है। यानी उनके लिए आज़ादी की जंग में पाकिस्तान का बनना भी शामिल हो चुका था।

फिर भी 1904 में लिखा उनका तराना

सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा
हम बुलबुलें हैं इसकी ये गुलसितां हमारा

आज तक हिन्दुस्तान का प्रिय गीत बना हुआ है, और उसमें अभिव्यक्त इस उद्गार में उनके पाकिस्तान का हिमायती होने से कोई फ़र्क़ नहीं आया है।

मज़हब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना
हिन्दी हैं हम वतन हिन्दोस्तां हमारा
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी
सदियों रहा है दुश्मन दौरे ज़मां हमारा

इक़बाल न शिया मुसलमान थे, न सुन्नी बल्कि वे सूफ़ी खयालात के थे।

उनके पूरे अदब को देखें तो कह सकते हैं कि वे पाकिस्तान में न रह कर हिन्दुस्तान में रहे होते तब भी तो उनकी पहचान मज़हब के बीच फ़र्क़ न करने वाले सूफ़ी की ही रहती। उनके रचनात्मक जीवन को 3 वक्फ़ों में बांटा जा सकता है।

(1) 1901–1905 : राष्ट्रीय गीत लिखे।
(2) 1905–1908 : दार्शनिक काव्य रचा।
(3) 1908–1938 : मुस्लिम बिरादरी को समर्पित कविताएं भी कहीं।

उनके सोच को दर्शाने वाली नया शिवाला एक मील का पत्थर कविता है, जो एकदम शुरुआती दौर में लिखी गई थी। हालांकि प्रकाशित 1924 में, उनके कविता संकलन बांगे दारा में हुई, जिसमें, 1901 से 1923 तक की लिखी उर्दू कविताएं थीं। इस कविता में उनके सभी मनपसन्द जज्बात शुमार हैं, जैसे भाईचारा, अमन चैन, आपसदारी और वतन की इबादत।

नया शिवाला की शुरुआती पंक्तियाँ हैं:

सच कह दूँ ऐ बरहमन! अगर तू बुरा न माने
तेरे सनमकदों के बुत हो गए पुराने
अपनों से बैर रखना तूने बुतों से सीखा
जंग-ओ-जदल सिखाया वाइज़ को भी खुदा ने
पत्थर की मूरतों में समझा है तू खुदा है
ख़ाक-ए-वतन का मुझको हर ज़र्रा देवता है
आ ग़ैरियत के परदे इक बार फिर उठा दें
बिछड़ों को फिर मिला दें, नक्शे दुई मिटा दें
सूनी पड़ी हुई है मुद्दत से दिल की बस्ती
आ एक नया शिवाला इस देस में बसा दें
दुनिया के तीर्थों से ऊँचा हुआ अपना तीरथ
दामान-ए-आसमाँ से इस का कलस मिला दें
हर सुबह उठ के गाएं मन्तर वो मीठे-मीठे
सारे पुजारियों को मय प्रीत की पिला दें
शक्ति भी शान्ति भी भगतों के गीत में है
धरती के बासियों की मुक्ति प्रीत में है

उनकी इस विचारधारा के समकक्ष टैगोर को रखें तो पाएंगे कि टैगोर और उनकी ज़ेहनियत यक्सां थी।

टैगोर भी वैष्णव धर्म के बजाय ब्रह्म समाज के अनुयायी बन गये थे, बल्कि उनका पुरा परिवार ही ब्रह्म था। उसके विषय में खुल कर उन्होंने अपने उपन्यास गोरा में विचार विमर्श भी किया था। मगर उन्होंने अपने उस मील के पत्थर उपन्यास में ब्रह्म समाज को कोई तरफ़दारी नहीं की थी। जैसे कुछ अतिरूढ़िवादी, कर्मकाण्डी और उतने ही असंवेदनशील 'हिन्दू' किरदारों को गर्त में गिरते दिखलाया था, वैसे ही कर्मकाण्डी ब्रह्म किरदारों को भी। इक़बाल के संदर्भ में तैगोर कि बात करें तो कह सकते हैं कि इक़बाल की तरह, टैगोर भी पाकिस्तान में रहते या हिन्दुस्तान में, उनकी मानसिकता में कोई फ़र्क नहीं आता। दोनों ही आज़ाद खयाल थे और धर्म तथा मज़हब के मामले में, रूढ़ परम्परा को त्याग कर, प्रगति और विवेकानुसार परिवर्तन की राह पर चल रहे थे।

पर अपने ख़यालात में, इक़बाल, टैगोर ही नहीं फ़ैज़ से भी ज्यादा इंकलाबी और बेबाक थे जैसे इन मशहूर अशार में।

उठोमिरि दुनिया के ग़रीबों को जगा दो
काख़े उमरा के दरो दीवार हिला दो
गरमाओ गुलामों के लहू सोज़े यक़ीं से
कुन्जिश्के फ़रोमाया को शाहीं से लड़ा दो
सुल्तानी ए जमहूर का आता है ज़माना
जो नक्शे ए कुहन तुम को नज़र आये मिटा दो
जिस खेत से दाहकां को मयस्सर नहीं रोज़ी
उस खेत के हर खोश ए गन्दुम को जला दो

इक़बाल ने सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्तान हमारा लिखा था तो रवीद्रनाथ टैगोर ने हमारा और बंगलादेश, दोनों के राष्ट्रीय गान लिखे; या उनके लिखे गीत दो देशों के राष्ट्रीय गीत बनें। 1911 में लिखा, हमारा जन गण मन अधि-नायक जय हे भारत भाग्य विधाता!

और 1906 मे लिखा बंगलादेश का आमार शोनार बंगला आमि तोमाय भालो भाशी ।

फ़ैज़ का जन्म भी मुल्क की आज़ादी के पहले 1911 में सियालकोट में हुआ, जो अब पाकिस्तान में है पर तब हिन्दुस्तान में ही था और तबतक आज़ादी की लड़ाई काफ़ी तेज़ी पकड़ चुकी थी। विभाजन के बाद सियालकोट के पाकिस्तान में होने की वजह से वे वहीं रहे और उनका निधन, लाहौर में 1984 में हुआ, इन्दिरा गान्धी की दिल्ली में हुई हत्या (31 अक्टूबर 1984) के बीस दिन बाद (20 नवम्बर 1984) को।

फ़ैज़ की मशहूर, सुबहे आज़ादी नाम की नज्म 1948 में, पाकिस्तान के पहले जन्म दिन पर लिखी गई थी; जो अपनी मिट्टी को प्यार करने वाले शायर का, आज़ादी के बाद के वक्त से मोहभंग दर्शाती थी और उस वक्त की परेशानियों और पशेमानियों को आईना दिखलाती थी।

ये दाग़ दाग़ उजाला, ये शब गज़ीदा सहर
वो इंतज़ार था जिसके लिए ये वो सहर तो नहीं
ये वो सहर तो नहीं जिसकी आरजू ले कर
चले थे यार कि मिल जाएगी कहीं न कहीं
फलक के दश्त में तारों की आख़िरी मंज़िल
कहीं तो होगा शबेसुस्त मौज का साहिल
जहाँ जा के रुकेगा सफ़ीनाए ग़मे दिल

अली सरदार जाफ़री का कहना था कि ये नज्म कोई भी लिख सकता था, इस्लाम में यक़ीन रखने वाला हो या हिन्दू धर्म में। पर यही तो असल बात थी। जो इन तीनों कवियों में एक जैसी थी। वे किसी मज़हब की मुख़ालफ़त नहीं करते थे। फ़ैज़ ने 1984 में अपने इन्तकाल से पहले 11 और ऐसी नज्में लिखी थीं, जो पाकिस्तान की आज़ादी के दिन का त्योहार मनाती थीं पर वे सपनों में खो कर नहीं रह जाती थीं। आम आदमी की उम्मीदों के साथ नाउम्मीदी का भी दस्तावेज़ पेश करती थीं। उनके दुख-दर्द और सितमगारों से लड़ने के जज्बे को भी उकेरती थीं। यानी वे असलियत का खट्टा-मीठा बयान करती थीं। आग़ा नासिर के मुताबिक, अगर हम उनकी सभी नज्मों को एक साथ रख कर पढ़ें, तो उनमें बयान तीखे दर्द के बावजूद, उम्मीद को उकेरती उनकी नाज़ुकखयाली और भीतरी रविश, एक लम्बी कविता का स्वाद देती है। और उनकी शैली उन्हें टैगोर की कविताओं के आध्यात्म और इक्बाल की सूफ़ी सोच, दोनों के क़रीब ले आती है।

टैगोर की एक कविता है:
विविध वासनाएँ हैं मेरी प्रिय प्राणों से भी
वंचित कर उनसे तुमने की है रक्षा मेरी;
संचित कृपा कठोर तुम्हारी है मम जीवन में।
अनचाहे ही दान दिए हैं तुमने जो मुझको,
आसमान, आलोक, प्राण-तन-मन सारे,
बना रहे हो मुझे योग्य उस महादान के,
अति इच्छाओं के संकट से त्राण दिला के।
मैं कभी भूल जाता हूँ, पुनः कभी चलता,
लक्ष्य तुम्हारे पथ का धारण करके अन्तस् में,
निष्ठुर! तुम मेरे सम्मुख हो हट जाया करते।
यह जो दया तुम्हारी है, जान रहा हूँ मैं;
मुझे भटकाया करते हो अपना लेने को ।
कर दोगे इस जीवन को मिलन-योग्य अपने,
रक्षा कर मेरी अपूर्ण इच्छा के संकट से।।

इक़बाल के यहाँ भी इसी उंचाई के अशार मिलते हैं। दो शेर तो ऐसे हैं जो उन लोगों की जुबान पर भी रहते हैं, जो नहीं जानते कि वे इक़बाल ने कहे हैं।

खुदी को कर बुलंद इतना कि हर तक़दीर से पहले
खुदा बंदे से खुद पूछे बता तेरी रज़ा क्या है

और यह:

मिटा दे अपनी हस्ती को गर कुछ मर्तबा चाहिए
कि दाना खाक में मिलकर, गुले-गुलज़ार होता है,

पहली नज़र में ये दोनों शेर एक दूसरे के विलोम लगते हैं। पहले में खुदी को बुलन्द करने की बात कही गई है, जो खुदा से होड़ लेने पर आमाद हो तो दूसरे में कुछ पाने के लिए हस्ती (खुदी) को मिटा देने की बात कही गई है। पर देखा जाए तो दोनों के पीछे एक ही जज्बा या अहसास काम कर रहा है। जब तक खुदी बुलन्द न हो, किसी में इतनी कुव्वत नहीं हो सकती कि वह खुद उसे मिटाने का तसव्वुर करे और उसकी मारफ़त कुछ हासिल करने की का इरादा बना सके। इसलिए कह सकते हैं कि दोनों अशार एक ही फ़लसफ़े का इज़हार कर रहे हैं और इक़बाल के भीतर कोई शशोपंज या दुविधा नहीं है।

बाकी और कुछ नामचीन और आम लोगों की जुबानों पर चढ़े अशार है–

हजारों साल नर्गिस अपनी बेनूरी पे रोती है
बड़ी मुश्किल से होता है चमन में दीदावर पैदा
जफ़ा जो इश्क में होती है वह जफ़ा ही नहीं,
सितम न हो तो मुहब्बत में कुछ मज़ा ही नहीं
दिल की बस्ती अजीब बस्ती है,
लूटने वाले को तरसती है।

फ़ैज़ की एक बहुत मशहूर नज्म है, जो इक़बाल के इंक़लाबी अशार की सी क़ैफ़ियत का इज़हार करती है।

मुझ से पहली सी मुहब्बत मिरी महबूब ना माँग
मैंने समझा था की तू है तो दाराकशन है हयात
तेरी आखों के सिवा दुनिया में रक्खा क्या है
तू जो मिल जाए तो तक़दीर निगूं हो जाये
यूँ ना था मैंने फ़कत चाहा था यूँ हो जाये
और भी दुख हैं ज़माने में मुहब्बत के सिवा
राहतें और भी हैं वसल की राहत के सिवा
दुनिया ने तेरी याद से बेगाना कर दिया
तुझ से भी दिल फ़रेब हैं ग़म रोज़गार के

पर उसके साथ ही उन्होंने कुछ नाजुक ख्याल शेर भी कहे हैं, जिन्हें कभी-कभी हम बिना यह जाने कि वे फ़ैज़ ने कहे हैं, गुनगुनाते रहते है, जैसे:-

कर रहा था ग़मे जहां का हिसाब
आज तुम याद बेहिसाब आये
दिल नाउम्मीद तो नहीं नाकाम ही तो है
लम्बी है ग़म की शाम मगर शाम ही तो है
और क्या देखने को बाकी है
आप से दिल लगा कर देख लिया
नहीं निगाह में मंज़िल तो जुस्तजू ही सही
नहीं विसाल मयस्सर तो आरजू ही सही
दोनों जहां तेरी मोहब्बत में हार के
वो जा रहा है कोई शबे ग़म गुज़ार के

ये अशार वैसे ही गाये जाते हैं जैसे हिन्दुस्तान के करीब करीब हर स्कूल में यह गीत

हम होंगे कामयाब एक दिन
मन में है विश्वास, पूरा है विश्वास
हम होंगे कामयाब एक दिन।

जब बच्चे नहीं जानते कि यह कविता किस की है, तब भी वे इसे इतने जोश के साथ गाते हैं, जैसे उन्हीं ने उसे लिखा हो।

यह बात इन तीनों मशहूर कवियों पर लागू होती है कि उनके अहसासात और उद्गार लोगों को ऐसे मालूम पड़ते हैं जैसे खुद उनके अहसास और दिली उद्गार हों। तभी बरसों बीत जाने पर भी वे हमारे अज़ीज और रहबर एक साथ बने हुए हैं। ●

मृदुला गर्ग की पाँच कविताएँ

ऐसे बनता है जंगल

गुरु ने कहा
जो जहाँ उगे वहीं रहने दो
ऐसे बनता है जंगल
तरतीब की खातिर
जगह बदल रोपा तो
बंजर बंजर रहेगा।

बंजर मैदान के किनारे
सडक पर मिला बेटा अनन्त में
धरती का टुकड़ा जंगल उगाने को
खरीदा
सोचा इतना भी क्या बंजर होगा

बावले थे हम!
सामने बह रही थी सरकारी नहर
जल का खार दौडेगा किनारे की तरफ
जमीन के सिवा कहाँ समाएगा
निकास न हो जब?

ठेके पर दिया नहर का काम
निकास बनाने का नहीं
नहर जितना सभ्य शब्द
निकास उतना भदेस
छीःनिकास शब्द
कविता में कोई लिखता है!
करें क्या, निकास से शापित हैं

बंजर रहा बंजर पानी था खारा
दो सौ फुट नीचे तलक
वनस्पति गुरु ने कहा
जो उगे जहाँ वहीं रहने दो....
कब तलक ... कब... तलक
सर्दी बीती, वसन्त बीता, गरमी में
धूप चिलचिलाई, हम टेरे रहे
बंजर को ईश्वर समझ

झाँऊ उगे पहले एक...दो...तीन
हुए लाल अगन समान
फिर उगे कीकर अनेक
आप से आप एक कोने में
पीले जंगली कनेर चार
देसी सिरस पाँच

गिनती बढ़ती गई....

अजब पंचमेल जंगल था
पर तोतों को उज्र न था
चले आये दो जोड़े
आया एक जोड़ा साँप भी
केंचुल त्याग चला गया
हमें अकेला छोड़...

ज़िद्दी हम कम न थे
तोतों की खातिर रोपा
बड़े सीमेन्ट के गमले में
पौधा अमरूद का
खार खा गई गमला
सूखने से पहले पर पौधा
दे गया नन्हें अमरूद चार...

बरसात हुई झमाझम
ठहरा पानी महीनों तक
खार–बोझिल धरती पर
झाँऊ हँसा, बढ़ाया क़द
पानी की सतह के साथ
कीकर लड़ा योद्धा की तरह
कनेर–सिरस क्यों पीछे रहते

खुश हो प्रकृति ने दी आशीष
कमल कमलिनी खिले सैंकड़ों
ताल बने बंजर में
इतना सुख क्या हमेशा रहता

सरकार ने बना लिया हाईवे
ज़मीन गई, जंगल गया
शेष रही स्मृति ....
मेरे फ़्लैट के गमलों में
हँसना मत...उग रहा जंगल
एक कीकर, मैंने नहीं लगाया

उगे आप से आप नीम अशोक
पिलकन पीपल और शिरीष
नन्हें पौधे ये बनेंगे नहीं पेड़
पर काल पर हँस उग आये न
न सही जंगल; आभास तो है

एकान्त नहीं कोरोना काल में

मुझे एकान्त की आदत है
मुझे एकान्त प्रिय है
एकान्त में स्मृति जगती है
बेआहट, बेआवाज़
ऐसे कैसे आ जाता प्रेमी
निःशब्द अचानक पास
इतने कितने चुम्बन पाती
आत्मा मूक निर्बाध

ज्यों प्रकृति हरियायी
हँसी नहीं, आँसू नहीं
हल्की स्मित ओंठों पर
दूर चिड़ियां चहचहातीं
ऐसे कैसे धीमे से

मौन भंग नहीं होता
स्मिति में आता फैलाव
स्मृति हरियाती ज्यों प्रकृति
एकान्त बना रहता
बेआहट बेआवाज़...

जब से कोरोना काल आया
एकान्त मिला नहीं पल भर
घर में अकेले क़ैद, कान सुनते
इतनी कितनी भीषण आवाजें
भूखे मर्दों–औरतों की सुबकियाँ
भूखे बच्चों का करुण क्रन्दन

बेघरों का सिसकता प्रलाप
बेरोज़गारों का हुजूम
ऐसे कैसे दो दो मीटर दूर
जैसे फौज की टुकड़ी
बूटों की धमक से जिसके
टूट जाते हैं पुल

प्रेमी ठिठका रहता चौखट पर
धकियाया–सा
सुनाई देतीं इतनी कितनी
चीखें बेआवाज़ गलों से
स्मृति मूर्छित हो जाती
एकान्त की धज्जियां उड़ जातीं

वरवर राव होना

यह होता ही रहता है इस मुल्क में
क्यों आज हम अपराध बोध से भरे हैं
फ़नकार ज़िबह होते ही रहते हैं
बाज़ जो नहीं आते वह करने से
जो हम कहने से कतराते हैं
रोक पाये हम कभी तानाशाह को
पर आज हद हो गई
सरकार बज़िद है
वरवर राव कैद से रिहा होंगे तब
जब दुनिया से कूच कर जाएं
रिहा कर देती तो हम शान्त रहते
चाहे वे कुछ ही दिन जीवित रहते
हम कोविड को गुनहगार बतलाते
कोविड को बड़ी उम्र से जोड़ देते
एक बहाना ही तो चाहिए था
कि गुस्सा न फ़नफ़नाए भीतर
कहीं हम सड़क पर न उतर आएं
हम मध्यवर्गीय सभ्य लोग
हम अमरीकन थोड़ा न हैं
हम ठहरे हिन्दुस्तानी, अभी मंदिर
बन रहा है अयोध्या में नया नकोर
अभी वक्त कहाँ है ग़दर के लिए
ग़दर छोड़ कोविड भी भुलाना है
रोना चाहो तो रो लो आज़ाद हो
कोई नहीं रोकेगा छाती पीट रुदन से
इस रुदन को रुदाली का रोना कहते हैं
यह रोने के लिए रोया जाता है
कीमत वसूल करके रोया जाता है
कमतरी के अहसास से जल कर नहीं।
माहिर हैं हम अफसोस जतला कर रोने में
अफ़सोस करने में नहीं वरना...
क्या कुछ न कर गुज़रते हम
हर कवि वरवर राव बन जाता।
पर तब पुरस्कृत कौन होता
पुरुस्कार लौटा यशस्वी कौन बनता
सब देश को गढ़ने में लग जाते तो
हमारी प्रसिद्धि ख्याति कौन गढ़ता
लेखन की दुनिया सूनी हो जाती
लोभ लिप्सा बिना कौन लिखता है
अपराध बोध, असन्तुष्ट मन प्रेरक हैं
रचना के वरना लेखक अन्य नागरिक
जैसा न हो जाए रसहीन क्रान्तिकारी
अजूबा है क्रान्ति और रस का मिलन
जैसे वरवर राव होना ।

कैसी है यह ज़िन्दगी

कैसी है यह ज़िन्दगी
बढ़ाये न बढ़े
बनाये न बने
बिगाड़ो तो बिगड़ जाए
घटाये न घटे
मिटाये न मिटे
काटे न कटे
फिर भी काटनी है यह ज़िन्दगी
हँसके काटो या रोके काटो
कटती पल पल करके ज़िन्दगी
बेबात या बात पर हँसी आये
तो हँसो जिस बात पर रोना आये
उस पर और खुल कर हँसो
खुशी में हँसे तो क्या हँसे
ग़मज़दा हो तो हँसो
काबिज़ होगी तब ज़िन्दगी
वरना शर्तों पर अपनी जिलाएगी
लोग कहें तो कहें
बड़े बेशर्म हो इतने गम में भी
हँसते हो इस तरह
कहो चलो आपको माफ़ किया
आप पर हँसेंगे हम खूब
आपके ग़मों को बख्श दिया
आप को मगर छूट देते हैं
जितना चाहें हँसे हमारे ग़मों पर
तय हुआ हँस कर जिएंगे ज़िन्दगी
तब भी जब काटे न कटे क्योंकि
हमारे मिटाये नहीं मिटती ज़िन्दगी
खुद को हलाक करो तो कहलाती
वह मौत है न कि ज़िन्दगी
हमें हर हाल जीनी है हँस कर
यह जो मिली है एक ज़िन्दगी

घास का फूल

ऊपर छाये ऊँचे शाल्मली के दरख्त
से गिरते फूलों की मार से
बाल्कनी के तमाम फूल
हताहत हुए तब
नाउम्मीदी से झाँक
उम्मीद की लौ ले गई
बाहर मुझे... है बचा कोई फूल
एक ...बस एक...चमत्कार!
गमले की घास में उगा था फूल
कोमल जैसे मकड़ी का जाल
रेशमी धागे सी महीन
बीच बीच में गाँठ बाँधे
सीधी तनी पाँच पंखुड़ियाँ
नीबू से हल्का ज़ेहरमोहरा रंग
एक उंगली से छुआ
नवजात शिशु, इतना कमनीय
होता है घास का फूल
पहले कहाँ मालूम था। ●

रुकावट

"और कितनी स्त्रियों से प्रेम रचा चुके हो?" रीता ने अपना सिर और आराम से उसके कन्धे पर टिकाते हुए अलसाये स्वर में पूछा।

"क्यों, क्या करोगी जानकर?" मदन ने एक बार आँखें खोलकर दोबारा बन्द करते हुए कहा।

"यों ही।"

"सोच रहा हूँ क्या कहूँ?"

"जो कुछ कहो, सच कहो और सच के अलावा कुछ नहीं कहो।"

"सबसे पहले मैं यह कहना चाहता हूँ कि तुम्हारे जितना प्यार मैंने किसी से नहीं किया।"

"चिकनी-चुपड़ी छोड़ो और मतलब की बात कहो।"

"तुम्हारे सिवा तीन और। कुल चार।"

"हूँ...?"

"सबसे पहले थी गीता शंकर। हम लोग कॉलेज में साथ पढ़ते थे। तब मैं एकदम अनाड़ी नौजवान रहा हूँगा। कॉलेज जाना शुरू किया था। हाँ, तुमसे बहुत मिलती थी उसकी सूरत। काफी दिन हम मिलते रहे, साथ कॉफी पीना, सिनेमा, सैर-सपाटा, नौका विहार, यही सब। खूब रूमानी ढंग के चुम्बन, फिल्मी प्रेम प्रदर्शन। फिर हम एक-दूसरे से ऊब गए। धीरे-धीरे मिलना-जुलना बन्द हो गया। फिर थी वह...वह... छोटे कटे बाल थे उसके...क्या नाम था...याद नहीं आ रहा...देखो न मुझे उसका नाम तक याद नहीं। फिर जब मैं बम्बई में नौकरी करता था तब..." अचानक वह चुप हो गया।

"छोड़ो," फिर उसने कहा।

"बताओ न।"

"तब मेरा खयाल था, मैं सचमुच उससे प्रेम करता हूँ। अब सोचता हूँ आसक्त रहा हूँगा। पाँच-छह माह हम नियमित मिलते रहे। वह किसी कम्पनी में नौकरी करती थी, सेक्रेटरी थी। अकेली रहती थी। हर शाम और रात अपनी थी। मैं भी अकेला रहता था न बम्बई में।"

"फिर?"

"फिर मेरा तबादला कलकत्ते हो गया। वह शायद कुछ दिनों के लिए अमेरिका चली गई थी।"

"उससे शादी क्यों नहीं की तुमने?"

"पता नहीं...यों ही...वैसी कोई बात नहीं उठी। हम लोग कुछ दिन साथ रहे, फिर अपनी-अपनी राह पकड़ ली। चले आने के कुछ दिन बाद तक मैं उसे लेकर परेशान रहा। फिर काम-धंधे में लग गया।"

"उस वक्त तुम उससे प्रेम करते थे न?"

"सोचता तो यही था। वह भी सोचती होगी वरना इतना खुलकर नहीं मिल पाती। खैर, उसे छोड़ने से मेरा दिल नहीं टूटा। अब तो स्मृति भी धुँधली हो चुकी है।"

रीता को लग रहा था, वह प्रेयसी से वेश्या में बदलती जा रही है। सम्मोहन की चादर हट जाए, अनुराग के संगीत में बाधा आ जाए तो बचता क्या है?बस अनावृत शरीर, उमस, पसीना और चिपचिपाहट!

उस समय रीता की एक ही इच्छा थी, साड़ी को कमर पर ऊँचा खींचकर छाती को पूरा ढक ले, पल्लू भुजाओं पर डाल ले और गरिमा के साथ कमरे से बाहर निकल जाए। पर कठिनाई यह थी कि साड़ी ही नहीं, उसके सभी कपड़े कमरे में तितर-बितर पड़े थे। मदन के कपड़ों से मिले-जुले। शायद कुछ उसके नीचे भी दबे हों। उस समय उठकर सबको बटोरने और पहनने में गरिमा का प्रदर्शन कठिन था। एक रुकावट और थी। रीता की नज़र कमज़ोर थी। बिना चश्मा पहने कपड़े ढूँढ़ना सम्भव नहीं था। नग्न देह, चश्मा पहन, झुक-झुककर कपड़े टटोलना; वह काल्पनिक चित्र इतना भद्दा और हास्यास्पद था कि उसे उलझन होने लगी। वह चुपचाप लेटी रही।

"अच्छा बताओ, तुम यह क्यों जानना चाहती हो?" मदन पूछ रहा था।

"यों ही। तुम्हारे लिए इसका कितना महत्त्व है, शायद यही जानने के लिए।"

"कमाल करती हो। मैंने कहा न, मैं तुमसे प्रेम करता हूँ। कलकत्ते से मेरा तबादला हो गया तो क्या हुआ। फौरन हम अलग नहीं हो रहे। अभी पन्द्रह दिन मैं यहीं हूँ। उसके बाद भी शायद मिलना हो सके।"

रीता को सहसा अपने पति का खयाल आ गया। उसका स्नेही, सज्जन, संवेदनशील पति। न सही प्रणय की उत्कट लालसा, न सही शृंगार का मुग्ध संगीत, न सही उन्माद में लुप्त चेतना; स्नेह तो था और संवेदना और आदर। वह उसकी हर इच्छा पूरी करने के लिए तैयार रहता था। जीवन अबाध गति से चलता था। कोई संशय नहीं, अविश्वास नहीं, अशान्ति नहीं। क्या रखा था इस प्रेम सम्बन्ध में! चोरी-छिपे होटल में मिलना, मैनेजर से लेकर बैरे तक से नज़रें बचाना...आज वह लिफ्ट-मैन कैसे देख रहा था उसकी तरफ। यह अकुलाहट, ग्लानि, आत्म-छलना और...वह ज़रूर उसके शरीर की तुलना करता रहता होगा। उसकी देह ऐंठने लगी। अब नहीं आऊँगी, उसने निर्णय किया। सोचा, कहे, मेरे कपड़े दे दो, मुझे जाना है। पर वह तय नहीं कर पाई, ठीक किस स्वर में उन शब्दों को कहे कि वे हास्यास्पद न लगें। मन ही मन जितनी तरह उन्हें दोहराया, शब्द भद्दे और बेतुके लगे।

वह चुपचाप लेटी रही। इतना ज़रूर किया कि जब मदन ने उसकी ओर करवट करके होंठ उसके वक्ष पर रखे तो उसने अपनी देह कठिन काठ कर ली। काठ को नग्नता की क्या लज्जा?

"जाने भी दो अब...छोड़ो रूठना। सच, डार्लिंग, ऐसे मत करो। कितना कम समय है हमारे पास। रीता! रीता डार्लिंग! कहाँ के गड़े मुर्दे निकालने चली कि खुद मुर्दा हो गईं। जाने भी दो..." मदन चुम्बनों के बीच कहे जा रहा था।

जाने भी दो, उसने सोचा, बह जाओ! डूब जाओ! छिन्न-भिन्न हो जाओ! फिर निकल आओ अवचेतन मिलन से झिलमिलाते आलोक में, वैसे ही अर्ध तृप्त, अर्ध तृषित! वही अनंतर आदि-अन्त!

वह चुपचाप लेटी रही। मदन ने हाथ का सहारा देकर उसका सिर अपनी बाँह पर ऊँचा कर लिया।

"ठीक हो?" उसने पूछा।

रीता ने हलके से सिर हिला दिया।

कुछ देर चुप रहकर वह कहने लगा, "तुम सचमुच सुन्दर हो। और स्त्रियों की तरह साज-सज्जा और रंगलेप के कारण नहीं, तुम्हारी हड्डियाँ ही सुन्दर हैं। जितना आकर्षक तुम्हारा शरीर है, उतना ही मोहक तुम्हारा हृदय और मस्तिष्क। जानती हो, तुम्हारा नाम क्या होना चाहिए था?अनुपमा, अनन्या, अद्वितीया।"

रीता हँस दी।

"पर कभी-कभी तुम्हारी अक्ल घास चरने चली जाती है क्या? सच, मुझे तुम पर अनुराग है और श्रद्धा भी। पर कभी-कभी तुम बिलकुल बच्ची बन जाती हो। ऐसा अक्सर होता है क्या तुम्हें?" उसने जिज्ञासु बालक की तरह पूछा।

रीता हँस दी। सिर हिला-डुलाकर और आराम से उसके कन्धे पर रखा और आँखें बन्द कर लीं।

मदन की आवाज़ सुन दोबारा आँख खुली।

"तुम्हें पाँच बजे तक घर पहुँचना है न?उठना चाहिए वरना देर हो जाएगी।"

लिफ्ट से नीचे उतरते हुए मदन ने पूछा, "कल कब आओगी?जल्दी आना।"

"दस बजे ठीक रहेगा?"

"हाँ। देर मत करना, प्लीज़, डार्लिंग! डार्लिंग रीता!" उसने आग्रह के साथ कहा।

"अच्छा," रीता ने कहा और हलके से उसका गाल थपथपा दिया। (1972) ●

राजकमल प्रकाशन से साभार

प्रतिध्वनि

मृदुला गर्ग की पहली कहानी 1972 में रुकावट छपी थी। तब से लेकर आज तक उन्होंने 90 कहानियां लिखी हैं जो पिछले दिनों राजकमल प्रकाशन से सम्पूर्ण कहानियों के रूप में आ चुकी हैं। इन कहानियों को पढ़कर उनकी कथा यात्रा को समझा जा सकता है। उन्होंने गत 50 वर्षों में कथा यात्रा में कितने प्रयोग किये यह भी पता चलता है। मृदुला जी विधाओं की आवाजाही में भी यकीन करती हैं। उनकी एक कहानी प्रतिध्वनि भी दी जा रही है जो बिल्कुल कविता जैसी है। सम्भव है कुछ लोग इसे कहानी न माने बल्कि कविता ही कहें। आप भी पढ़िये इस कवितानुमा कहानी को।

"मेरे साथ गाओ-हाईया"
"हाईया।"
"ताली बजाओ-क्लैप क्लैप क्लैप।"
"क्लैप। क्लैप। क्लैप।"
थिरकते कदम।
बल खाते बदन।
सिरों के ऊपर उठे सपीले सरसराते हाथ।
त्ता त्ता बजती हथेलियाँ।
धमक देते पाँव।
झटका खाते बदन।
तेज़। और तेज़। और और तेज़।
हाईया। हाईया। हाईया।
धम धम धम।
लहराता, बलखाता, तड़फड़ाता बदन।
कँपकँपाता, थरथराता, टेरता स्वर।
लय?ताल?सुर?
हाईया-हाईया-हाईया।
एक के साथ एक
शोर का सम्मोहन।
भीड़ का सम्मोहन।
सटे अंगों का सम्मोहन।
विवेक से परे, अनायास आदेश पालन का सम्मोहन।
एक मैं ही तो नहीं बहक रहा।
एक मैं ही तो नहीं ताली पीट रहा।
एक मैं ही तो नहीं झूम रहा।
एक मैं ही तो नहीं चीख रहा।
मेरे साथ भीड़ है।
मेरे साथ नेता है।
हुक्म वह देता है
ताली बजाओ त्ता-त्ता-त्ता।
मैं नहीं बजाता, वे बजाते हैं।
मैं तो सिर्फ अनुसरण करता हूँ।
आदेश वह देता है,
मिलकर गाओ-हाईया!

मैं नहीं चिल्लाता, वे चीख पड़ते हैं।
मैं चीत्कार सा फूट पड़ता हूँ।
ज़िम्मेदारी उसकी है, मेरी नहीं।
वे भी यही सोचते हैं।
सोचते नहीं, महसूस करते हैं।
सोच के दायरे से बाहर आकर भी दायरों में बन्द रहते हैं।
मैं भी रहता हूँ।
कोई कहने वाला न हो तो वे
इस तरह कूद सकते हैं, झूम सकते हैं, चीख सकते हैं?

वे बहना नहीं जानते, सिर्फ उछलना जानते हैं
वे लहर नहीं हैं, तरंग नहीं, हिलोर नहीं हैं।
वे ठहरे पानी में बाँस सरीखे हैं
धकेल दो, आगे सरक जाएँगे।
खींच लो, पीछे पलट आएँगे।
डोरी फँसाकर घुमा दो, चकरघिन्नी खाते चले जाएँगे।
जब तक डोरी वापस न खींच लो।
सम्मोहन तोड़ दो, लट्टू रुक जाएँगे।
कितना आसान है
उनके घूमने की धुरी एक है।
वे इस चौकोर दायरे से बाहर नहीं भागे।
कोशिश नहीं की।
क्यों करें?
वे अलग व्यक्ति नहीं, समूह के अवयव हैं।
समूह डोरी से बँधा उसकी आवाज़ में कैद है।
सम्मोहन समूह में है, साथ देने में है।
होने के अहसास को छोड़कर होने में है।
उस दायरे के बीच जीने में है जहाँ कोई सवाल नहीं करता।
तुम क्यों हो?
यहाँ क्यों हो?ऐसे क्यों हो?इस हाल में क्यों हो?
सिर्फ कहता है, तुम यह हो, यहाँ रहो, ऐसे करो, इस हाल में रहते चलो।

जब तक नगाड़े पर धमक पड़ रही है।
गिटार की रगें तड़प रही हैं।
ये लोग झूमेंगे, झूलेंगे, झटका खाएँगे
आदेशों की थापें थम जाने पर सीधे होकर
अपनी सीटों पर जा बैठेंगे।
पेशानी पर आया पसीना पोंछेंगे और...सम्मोहन टूट जाएगा।
अपने-अपने घर जाकर वे अपनी
ज़ंजीरों में जकड़े अपनी दिनचर्या में जुट जाएँगे।
वे न जानें कि उन ज़ंजीरों को
कसने में उसका हाथ है, वह उन्हें
भीड़ का अंग बनाता है। तो क्या हुआ?
वे और ही क्या जानते हैं?
वे सिर्फ महसूस करते हैं अपना होना
अलग से नहीं, सम्मोहित समूह के अंश रूप में।

"कृष्ण कृष्ण! हरे कृष्ण!"
"कृष्ण कृष्ण! हरे कृष्ण!"
"तुम जो राधा होते श्याम..."
"तुम जो राधा होते श्याम..."
"तुम जो..."
"तुम जो..."
"राधा होते श्याम। श्याम श्याम। राधे श्याम!"
"श्याम श्याम! राधे श्याम!"
झूम-झूम लड़खड़ाते कदम।
बल खाते गेरुआ चोले।
इधर-उधर लरज़ते हाथ
दाएँ-बाएँ झूलती गरदन।
सुलगती सम्मोहित चितवन।
"कृष्ण कृष्ण! कृष्ण कृष्ण!"
"कृष्ण कृष्ण! कृष्ण कृष्ण!"

लस्त-पस्त पड़ते पाँव

सिरों के ऊपर उठे सर्पीले सरसराते हाथ
त्ता त्ता बजती हथेलियाँ।
घंटियाँ टुनटुनाओ। मंजीरे खनखनाओ।
ढोलकी पर थाप दो।
"कृष्ण कृष्ण! राधे कृष्ण!"
भगवान है भगवान का अवतार है।
वह कहता है, है।
वे नहीं जानते उन्होंने नहीं देखा वे समझना नहीं चाहते।
वे सुन रहे हैं और महसूस कर रहे हैं।
भगवान है भगवान का अवतार है। वह कहता है, है।
भगवान व्यक्ति के लिए नहीं होता।
वह समूह का संचालक है।
वे व्यक्ति नहीं हैं समूह के अंग हैं।
संचालित होने में कितना आनन्द है
मुक्ति?नहीं-नहीं, निर्वाण।
कोई रोक नहीं, रुकावट नहीं।
अपने अंगों तक पर अंकुश नहीं।
जिधर पड़ते हैं पड़ने दो।
हाथ-पाँव ही हैं न।
आह, कोई और चलाए तो डगमगा कर चलने में कोई अपराधबोध नहीं।
भगवान है, वह कहता है, है।
बहक लो जितना वह बहकाए, फिर भी तुम गुमराह नहीं।
करो करो, जो वह कराता है, करो।
सुनो सुनो, जो वह सुनाता है, सुनो।
उसकी मानो, भगवान है।
भजो राधे कृष्ण। राधे कृष्ण।
तुम जो राधा होते श्याम...
तुम जो
जो तुम...
राधा होते श्याम...

"इंकलाब ज़िन्दाबाद!"
"ज़िन्दाबाद! ज़िन्दाबाद!"
मैं ज़िन्दाबाद।
मेरा होना ज़िन्दाबाद
दाएँ-बाएँ। सामने देख।
ठक-ठक। ठक-ठक।
जूतों की ठमक।
सीधे तने बदन।
झंडा फटकारते हाथ।
इंकलाब! इंकलाब! इंकलाब!
ज़िन्दाबाद! ज़िन्दाबाद! ज़िन्दाबाद!
एक के पीछे एक।
सिरों की कतार।
पताकाओं का हुजूम।
धमकते कदमों का जुलूस।
फड़कते नारों का शोर।
सिरों के ऊपर उठे सर्पीले सरसराते हाथ
त्ता त्ता बजती हथेलियाँ।

ज़िन्दाबाद-ज़िन्दाबाद-ज़िन्दाबाद!
ज़िन्दाबाद कौन?
वे नहीं जानते। जानना नहीं चाहते।
वे बस सुन रहे हैं, भड़क रहे हैं चीख रहे हैं।
धधक रहे हैं। वह कहता है आगे बढ़ो।
वे आगे बढ़ रहे हैं
वह कहता है जला डालो।
वे आग सुलगा रहे हैं।
वह कहता है तहस-नहस कर डालो।
वे गोली चला रहे हैं।
वे उस सरहद पर मँडरा रहे हैं जहाँ कोई सवाल नहीं करता। तुम क्यों बढ़ रहे हो सुलग रहे हो झपट रहे हो?वह कहता है मैं हूँ।
तुम हो क्योंकि मैं हूँ।
जो मैं कहूँ करो।
कहीं ऐसा न हो मैं न रहूँ।
फिर तुम्हारा क्या होगा?
तुम हो क्योंकि एकसाथ हो मेरे पीछे हो।
आगे का रास्ता अनजान है
मेरे बिना तुम कैसे जानोगे रास्ता किधर जाता है?
तुम बँट जाओगे। बँटकर बिखर जाओगे। बिखर कर
व्यक्ति बन जाओगे।
उन संकुचित दायरों में कैद जहाँ हर
कदम की ज़िम्मेदारी तुम्हारे कन्धों पर होगी।
यहाँ ज़िम्मेदारी मुझ पर है।
तुम्हें सिर्फ कदम से कदम मिला कर चलना है।
साथ बढ़ते कदमों का सम्मोहन।
साथ उछलते नारों का सम्मोहन।
साथ होने का सम्मोहन।
क्या कम है?

वह ज़िन्दाबाद!
उसका होना ज़िन्दाबाद!
अनेक से पहले एक।
एक के पीछे अनेक।
अनेक में सिमट कर एक।
सम्मोहित अनेक। सम्मोहन एक।
ताली बजाओ, क्लैप क्लैप क्लैप।
तान लगाओ, कृष्ण कृष्ण कृष्ण।
नारा उठाओ, ज़िन्दाबाद ज़िन्दाबाद ज़िन्दाबाद।
कौन दर्शक?
कैसा प्रश्न?
किसका निर्णय?
चुनाव कर लो।
अधिकार है तुम्हें।
जिसकी प्रतिध्वनि बनकर जीना चाहते हो
जी सकते हो। (1980)

राजकमल प्रकाशन से साभार

आयाजी और चोर

(वे नायाब औरतें का एक अंश)

स्वर्णा आया के मन में जो आज़ादी की ललक थी, शायद भगतसिंह, आज़ाद, बोस के मन में भी नहीं रही होगी, बस उनके पास वे उपादान या साधन नहीं थे, जिनके ज़रिये कोई बड़ा काम कर पातीं। पर उन्होंने हमें ही नहीं, अनेक नामी लोगों को आज़ादी का पाठ पढ़ाया या उनकी इच्छाशक्ति को बढ़ावा दिया। मुझे याद है, 1944 में, आज़ादी की जलती मशाल, सिद्धेश्वर ढ़ढ़ूढ़ा हमारे घर आये हुए थे। पर उन दिनों स्वाधीनता आंदोलन स्थगित पड़ा था। पूरा हिन्दुस्तान ब्रिटेन के लिए युद्ध लड़ रहा था। उम्मीद थी कि युद्ध के खत्म होते ही, भारत को आज़ादी मिल जाएगी। पर अंग्रेज़ मुल्क को बाँटने की सजिश में लगे थे। हिन्दु मुसलमानों में फूट डाल रहे थे। सिद्धेश्वर ढढ़ूढ़ा काफ़ी अवसाद में थे, पिताजी भी। स्वर्णा आया उनकी बातचीत सुनती रहती थीं। एक दुपहर खाना निपटने के बाद जब ढढ़ूढ़ाजी जाने की तैयारी में थे, स्वर्णा आया ने आकर सीधे उनका कन्धा पकड़ लिया। बोली, 'कांचते कैनो। आजादी मिलेगा। जरुर मिलेगा। तोम जिन्दा नईं रहा, अम जिन्दा नईं रहा तो क्या, बच्चा लोग होगा। जरुर आजाद होगा। अम बचन देता है।'

हम सब भौचक उनकी तरफ़ देखते रह गये। उस वक्त वाकई वे साक्षात काली माई लग रही थीं। माथे और माँग में सिन्दूर दिपदिप कर रहा था, आँखें कपाल पर चढ़ी हुई थीं। गहरे सम्मोहन में डूबे ढढ़ूढ़ा अंकल ने बहुत धीमे से कहा, आज़ादी और स्वर्णा आया के पाँव छू लिये। आयाजी ने भी आशीर्वाद में धीमे से आज़ादी कहा और ऐसे बर्तन समेटने लगीं जैसे कुछ हुआ न हो।

मिज़ाज से वे दुर्गा थीं तो देखने में काली माई। चिकनी नील-स्याह त्वचा; बड़ी बड़ी लौ सी लपलपाती ताम्बई आँखें और घुटनों से नीचे लहराते घने रेशमी काले बाल। उनके चोऽप कहते ही सनाका खिंच जाता था; छोटे बड़ों, सबकी बोलती बन्द हो जाती थी।

पर वे जितनी गर्म मिज़ाज थीं, उतनी ही खिलंदड़ी। रात-रात जाग कर हमने उनकी पनाह में ही, काली बाड़ी में दुर्गा पूजा और बिरला मंदिर में जन्माष्टमी के त्योहार मनाये थे। सर्कस, जादूगर, नाटक, फिल्म, वगैरह पिताजी या चाचाओं के ज़िम्मे थे पर नौटंकी और रामलीला आयाजी की मिल्कियत थीं। हर तरह की फ़नकारी का मज़ा लेते हुए, अपनी चौतरफ़ा परवरिश से हम इतने खुश थे कि माँ के लाड़ न लड़ाने की कमी, शायद ही कभी महसूस की। उनकी देखा-देखी किताबें खूब पढ़ीं, जिन्हें, अँधेरा घिर आने पर, 'आँख ख़राब हो जाएगा' कह आयाजी, हमारे हाथों से छीन भी ले जाया करती थीं। पर इस वादे के साथ कि अगली सुबह वापस कर देंगी। मनोवैज्ञानिक कह सकते हैं कि हम माँ के प्यार की चाह को, उनकी तरह किताबों से प्यार करके पूरा कर रहे थे। हो सकता है पर उससे हमारा कोई नुकसान नहीं हुआ। अगर आप हम में से तीन बहनों के लेखक और भाई के कवि बनने को नुकसान न समझें। बाक़ी दो बहने, चित्रा और रेणु, लिखती भले न हों पर पढ़ने के मामले में, माँ की तरह जनूनी हैं। वे किताब, मज़े के लिए पढ़ती हैं, किसी पर साहित्य प्रेमी होने का रौब डालने के लिए नहीं। और नशेड़ी की तरह एक किताब सिरहाने ज़रूर रखती हैं कि, ऐसा न हो कि मन आ जाए पर किताब हाथ न लगे। मेरे पास जितनी भी किताबें आती हैं, मैं रेणु के हवाले कर देती हूँ; वह पढ़ कर चित्रा के हवाले।

आयाजी का रौब, जितना हम पर चलता था, उतना ही चाचाओं और कुछ हद तक पिताजी और फूफाजी पर। पर सबसे ज्यादा वे उसे चलाना चाहती थीं, हमारे यहाँ रसोईये का काम करने वाले अपने पति, लछमन महाराज पर। चलता तो था पर ज्वार-भाटे की तरह। यानी कभी आयाजी ज्वार पर तो कभी लछमन महाराज। ज्वार से भाटे या भाटे से ज्वार की तरफ़ जाने की मशक्कत खूब तेज़ तर्रार, रार-तकरार से निबटाई जाती, फिर भी आयाजी खयाल रखतीं कि बीबीजी के आराम में ख़लल न पड़े। जिन दिनों आयाजी ज्वार से भाटे की तरफ़ आ रही होतीं, अपना गुस्सा घर आनेवाले हर कामगार पर निकालतीं। धोबी, नाई, रद्दी ख़रीदने वाला, जूता पॉलिश करने वाला, फ़ेरी लगा कर फल-सब्ज़ी, गुब्बारे, बुढ़िया के बाल, तले पापड़, चने-मुरमुरे या आलू की टिक्की बेचने वाला। ख़ास कर हिसाब-किताब के मसले पर। सब इतना डरे सहमे रहते, कि चाह कर भी उनके मौलिक मुहावरों का मज़ा न ले पाते। वे लछमन को बोका ओड़िया, की रान्ना करे, कुकुर खाबे ना! कहतीं तो लछमन उन्हें बंगला काली बुढ़िया कह कर नवाज़ता। काली माई नहीं, बुढ़िया! फ़र्क समझे ना? उसके बाद वे उसकी सात पीढ़ियों की ख़बर ले डालतीं और लछमन मर्दाना गालियों पर उतर आता, पर पहली गाली पर ही, उनका चोऽप बीबीजी सुनेगा... कह कर उनका, उसका मुँह दबोच लेना, उसे चुप करा देता। उसके बाद वह दो-चार दिन खाना नहीं बनाता। आयाजी का काम इतना बढ़ जाता कि वे किसी रात चुपचाप सुलह कर लेतीं।

अब इस सफ़र के दौरान, सोचिए, किसी रात चोर आ आये तो?सुनिए,उसके आमद की कहानी।

रात में हमारा घर एक क़ैदखाने की मानिन्द तालाबन्द किया जाता था। घर छोटा था, रहने वाले ज्यादा; छह बच्चे, मम्मी-पिताजी, दो-एक चाचा, आया-लछमन, एकाध मेहमान। पिछवाड़े गली में खुलने वाले चौदह फुटे दरवाज़े पर अन्दर से मोटा ताला जड़ा रहता। निस्बतन निचले पर नुकीले काँच जड़े अगले फाटक पर दो ताले मारे जाते; एक ज़ंजीर पर ऊँचाई पर और एक कुंडी में नीचे। दो-दो कमरे एक गलियारे के दोनों तरफ़ थे, जिनमें इतने लोग सोये रहते कि छाया तक का घुसना मुश्किल था। फिर भी हर कमरे में अन्दर से ताला लगता। चारों कमरों को एक साथ बन्द करने के लिए गलियारे के खत्म होने पर एक दरवाज़ा लगवाया गया था, जो सर्दियों में ठन्ड से और खस के पर्दे से लैस हो कर, गर्मियों में ताप से कमरों का बचाव करता। उस गलियारे के ऊपर एक पोर्टेबल छत की तामीर की गई थी, जिसे रस्सी के सहारे, मौसम के हिसाब से, उठाया या गिराया जाता। पिताजी की इस ख़ामख्याली को असलियत का जामा पहनाने के सिलसिले में कई बढ़ई आये-गये, आखिर एक खब्ती बूढ़े बढ़ई ने बेहद खूबसूरती से उसे बनाया और उसपर महीन नक्काशी भी की। उसका खब्त यह था कि उसने अपनी कारीगरी के एकमुश्त पैसे न ले कर, यह शर्त रखी कि वह जब चाहेगा, हमारे घर, दुपहर का खाना खा लेगा। इससे लछमन काफ़ी नाराज़ हुआ और हम बच्चे काफ़ी खुश, क्योंकि वे अपनी लम्बी दाढ़ी के साथ, जिन्न की तरह, कभी भी नमूदार हो जाते और हमें तरह-तरह की चित्रकारी सिखला जाते। उनके आने के दिन का मालूम न रहता था पर वक्त एक ही रहता; हमारे स्कूल से लौट आने के कुछ बाद।

ख़ैर अभी मुद्दा यह था कि गलियारे को रोकते दरवाज़े पर भी रात में एक ताला लटका रहता। चोर के लिए घर में घुसना जितना मुश्किल था उतना ही किसी कमरे के भीतर जाना। यह दीगर है कि इस सारी कवायद को धता बतलाते हुए, हमारे चचा अगले आँगन में सोते थे और आया-लछमन पिछले आँगन में।

तो साहब एक रात, एक लम्बा, जवान, कसरती, सेहतमंद चोर, चौदह फुटा फाटक लाँघ कर पिछले आँगन में कूद गया। दुनिया में ऊँची कूद के रिकार्ड

पार करने वाले को इनाम मिलने के बजाय, जो मिला वह था, सुवर्णा आया का चीत्कार। उसीके साथ उन्होंने चोर का हाथ कस कर पकड़ लिया। उसने हाथ छुड़ाने की भरसक कोशिश की पर नाकाम रहा। कुछ ही देर की कशमकश में स्वर्णा आया के घने चमकीले स्याह बाल, जूड़े से खुल कर कमर के नीचे तक लहराने लगे। माथे पर बड़ी गोल लाल बिन्दी और माँग में मोटा लाल सिन्दूर। चेहरा उतना ही काला जितने बाल। अब स्वर्णा आया चीखीं, चोऽर! तो चोर उनसे भी ऊँची आवाज़ में चीखा, काली माई! आयाजी ने चीखना बन्द करके पूरी ताक़त चोर को पकड़े रहने में लगाई। चोर ने हाथ छुड़ाने की कसरत छोड़, पूरा ज़ोर चिल्लाने में लगाया, 'छोड़ दे काली माईऽ, छोड़ दे!' फिर वह चिल्लाता ही चला गया।

जब तक पिताजी और जुग्गी चचा तमाम ताले खोल और दुबारा बन्द कर, पिछले आँगन में पहुँचे, चोर पूरी तरह पस्त हो चुका था और लबेदम मिन्नत कर रहा था, 'छोड़ दे काली माईऽ अब कभी चोरी नहीं करूँगा!' पिताजी को देखा तो उनकी मिन्नत कर उठा, 'छुड़वा दो सरकार। पुलिस में दे दो!'

जुग्गी चाचा बोले, 'पकड़े रहना आयाजी, हम पुलिस को फ़ोन करते हैं।'

पिताजी ने हँसी दबा कर कहा, 'नहीं जुग्गी। आया, उसका हाथ छोड़ दो।'

आया ने छोड़ने की कोशिश की पर हाथ जैसे उसके हाथ पर चिपक गया था। 'नई छोटता साब!' उन्होंने चोर जैसी धीमी आवाज़ में कहा।

'छुड़ाओ अपने को!' पिताजी ने डाँट कर चोर से कहा, 'कैसे चोर हो!'

चोर ने पूरा ज़ोर लगाया, बोला, 'इंसान से छुड़ा सकता हूँ, देवी से नहीं। लगता है सब पापों की सज़ा आज ही देगी।'

'मैं पुलिस को बुलाता हूँ, वही छुड़ाएगी,' जुग्गी चाचा दहाड़े।

'नहीऽ,' पिताजी ने फिर डपटा। उन्हें ड्रामे में मज़ा आ रहा था।

'हे काली माई! मैं कसम खाता हूँ, कभी चोरी नहीं करूँगा। मुझे छोड़े तब न पाँव पड़ूँ,' चोर ने गुहार लगाई।

तभी हवा चल पड़ी। बालों के साथ सुवर्णा आया का लाल पल्लू भी लहरा उठा। क्या समां था।

मैं और मंजुल एक दूसरे को पकड़े, थरथर काँपते नाटक को पी रहे थे। बाक़ी बच्चे कमरों के भीतर थे।

तभी पिताजी ने आगे बढ़, आया और चोर के हाथ खींच कर अलग कर दिये। माँ-माँ! करता चोर आया के पैरों से लिपट गया! वह एक हाथ से दूसरा हाथ मलते, अलग छिटक गई। चोर फिर भी माँ-माँ उचारता रहा। शायद आया की ममता जग गई। बुदबुदा कर बोली, 'आर चूरी नईऽ' और ग़ायब हो गई। चोर को यही लगा होगा। हम जानते थे, दीवार से सटा एक पर्दा पड़ा रहता था, वे उसी के पीछे चली गई थीं। पर चोर नहीं जानता था। लिहाज़ा यही मानता रहा कि ग़ायब हो गई। हम जान कर भी

अनजान बन गये। जब-जब कहानी दुहराई यही कहा, 'फिर वे ग़ायब हो गईं।'

बौराया चोर पिताजी के पैर पकड़ने लगा तो उन्होंने कहा, 'उसी रास्ते वापस जा सकते हो जिस रास्ते आये थे?'

चोर ने फाटक देखा तो घिग्घी बँध गई। ज़रूर पीछे कोई ऊँची चीज़ रख कर ऊपर उछला होगा।

पिताजी ने कहा 'किसी और रास्ते जा सकते हो?'

चोर गलियारे की तरफ़ मुड़ा। मोटा ताला देख मासूमियत से बोला, 'ताला तोड़ दें?'

'तोड़ दो।'

चोर ने ताला तोड़ दिया। आगे के दो दरवाज़ों को खोलने की कोशिश की तो महसूस किया अन्दर ताले लगे होंगे।

फुसफुसा कर बोला, 'दरवाज़ा तोड़ दें?'

'एक नहीं, बाहर पहुँचने के लिए तीन तोड़ने पड़ेंगे।'

'तब रहने दें?'

उनका याराना देख जुग्गी चचा खूब फड़फड़ाये पर मारे गुस्से के मुँह से आवाज़ नहीं निकली।

'रहने दो। पिछला फाटक खोल देता हूँ, निकल जाओ।'

'भाई साहब!' जुग्गी चचा कराह कर चीखे, 'सज़ा दिलवाइए बंदर को।'

बंदर, मतलब समझ गये न? पिताजी के सामने बेचारे गाली तक न दे पाये। हालांकि फुसफुसा कर उन्होंने हरामी कहा ज़रूर। कहा कि हमने तसव्वुर कर लिया, कह नहीं सकती।

'काफ़ी मिल चुकी,' आख़िर पिताजी हँस दिये, 'और क्या मिलेगी। मरते दम तक नहीं भूलेगा। साला चाहेगा तब भी चोरी न कर पाएगा।' ●

मृदुला गर्ग की रचना

मृदुला गर्ग के बेबाक विचार

1. मेरा मानना है कि लेखक में मौलिक सृजन करने की उत्कट वृत्ति तब जन्म लेती है, जब वह समकालीन सांस्कृतिक सत्ता द्वारा प्रतिपादित मूल्यों पर प्रश्नचिन्ह लगाने लगता है। उन्हें पुनः निर्मित करके एक नया संसार बसाने की ललक, उससे सृजन करवाती है।
(चूकते नहीं सवाल, मृदुला गर्ग, पृ-24)

2. मैं नहीं मानती कि सामाजिक बंधनों या नैतिक मूल्यों के भय से जो प्रेम शारीरिकता से दूर रहता है, वह वास्तविक अर्थ में प्लेटॉनिक माना जा सकता है। ऐसा कहना अपने प्रति पाखंड के सिवाय और कुछ नहीं है। शरीर संबंध की इच्छा, ललक, कामना मन में है तो वह प्रेम शारीरिक ही हैं।
(चित्तकोबरा, मृदुला गर्ग, पृ-6)

3. कायर को सबसे बड़ा डर यही होता है कि कोई उसे कायर न कह दे। जो जितना बड़ा कायर होता है उतना ही व्यापक होता है उसका अपराध बोध उतनी ही भयानक होती है उसकी वेदना और शर्मनाक उसकी कायरता।
(चित्तकोबरा, मृदुला गर्ग, पृ-53)

4. एक को छोड़कर दूसरे के साथ शारीरिक संबंध स्थापित कर लेने से प्रेम का निर्वाह हो, यह जरूरी नहीं है। भोग लिप्सा शांत हो भी जाए तो आत्म पुष्टि उससे प्राप्त नहीं होती, यह तथ्य मेरे पहले उपन्यास 'उसके हिस्से की धूप' की नायिका मनीषा ने अंत तक आते-आते ग्रहण कर लिया था। 'चित्तकोबरा' में इस तथ्य से नायिका मनु की मानस की कथा यात्रा आरंभ होती है।
(चित्तकोबरा की भूमिका से पृ-9)

5. क्रांति से हमारा अभिप्राय समाज की वर्तमान प्रणाली और वर्तमान संगठन को पूरी तरह उखाड़ फेंकना है। इस उद्देश्य के लिए हम सरकार की ताकत को अपने हाथ में लेना चाहते हैं।
(अनित्य, मृदुला गर्ग, पृ-81)

6. मैं क्या सिर्फ जिस्म हूं?जिस्म तो घर है मेरा। मैं उसके अंदर रहती हूं। हर घर की एक आत्मा होती है। मेरे घर की भी है। मैं उसी आत्मा को लोगों में बांटना चाहती थी।
(शहर के नाम, गर्ग, पृ-85)

7. वांछित पुरूष को पा लेने से ही स्त्री का जीवन सार्थक नहीं हो जाता, एक पुरुष को छोड़कर दूसरे के पास जाने से क्षणिक आवेश भले ही शांत हो जाएं अन्ततः निस्सारता ही हाथ लगाती है।
(मैं और मैं, गर्ग, पृ-09)

8. मैं समझती हूं कि फेमिनिज्म का मतलब नारी मुक्ति नहीं सोच की मुक्ति है। अगर स्त्री मौजूदा राजनीतिक, आर्थिक नीति और इतिहास उन मानदंडों के अनुसार परख सकती हैं, जो उसने खुद इजाद किये है, तो वह फेमिनिज्म है।
(चूकते नहीं सवाल, गर्ग, पृ-76)

9. यूं तो हर औरत मर्द में किसी न किसी बात को लेकर अपराध बोध होता है पर औरतें इस मामले में ज्यादा ही सिद्धहस्त होती हैं। अपराध बोध पैदा करने में उनके कल्पना शक्ति साइंस फिक्शन लिखने वालों को मात देती है। बच्चा भरपेट नाश्ता किए बगैर स्कूल चल जाए तो अपराध बोध, ब्लड प्रेशर की माकूल खुराक न खाने से पति को लकवा मार जाए तो अपराध बोध, नौकरी करें तो बच्चों की पर्याप्त देखभाल न करने का गिल्ट, नौकरी ना करें तो समय व प्रतिभा बर्बाद करने का गिल्ट,लगता है, औरत आदमी से नहीं अपराध से शादी करती है।
(कठगुलाब, गर्ग, पृ-31)

10. यह सत्य है कि वैयक्तिक कुछ न ही और न ही नितांत सामाजिक। दरअसल व्यक्ति के माध्यम से समाज को और समाज के माध्यम से व्यक्ति को परखना होता है।
(कठगुलाब, गर्ग, पृ-प्रथम पृष्ठ) ●

प्रस्तुति- किशोर कुमार
(शोधार्थी, दिल्ली विश्वविद्यालय)

वे उम्र में नहीं जीती हैं

मधु कांकरिया

मृदुला जी को पूरी तरह पकड़ पाना कहाँ मेरे बस का! मैं तो यह तक नहीं याद कर पा रही कि पहली बार कब मिली थी उनसे। चाह कर भी नहीं पकड़ पा रही यादों के उन परिंदों को। हाँ, इतना भर ध्यान है कि जो पहली बात सुनी थी उनके बारे में मित्रों से वह यह थी कि बहुत बोल्ड लेखिका हैं और अपनी बोल्डनेस के चलते एक बार गिरफ्तार भी हो चुकी हैं। तब तक उनकी कुछ रचनाएं पढ़ चुकी थी मैं, इसलिए जितना भी भेजा था भेजे में, सब लगा दिया सोचने में फिर भी सोच नहीं पायी कि ऐसी लेखिका से सत्ता को भला क्या खतरा हो सकता है? लेकिन इस जानकारी के बाद उनसे मिलने की चाहत शिद्दत से होने लगी। उनका जैन होना और अर्थशास्त्र से एम.ए. होना भी शायद एक कारण रहा हो।

दरअसल कुछ लेखकों के साथ ऐसा होता है न कि उनसे मिलने के पहले ही आप उनसे मिल चुके होते हैं। जाने कितनी दूर तक उनके साथ चल भी चुके होते हैं। जाने किन किन परिचितों से, मित्रों से, दृश्य अदृश्य स्रोतों से उनके बारे में सुन चुके होते हैं, उनकी कृतियों से, उनके किरदारों के माध्यम से लेखक की एक काल्पनिक छवि अपने हृदय में गढ़ चुके होते हैं। वह कल्पना यथार्थ पर इतनी भारी होती है कि एक समय बाद आप चाह कर भी कल्पना को यथार्थ से अलग नहीं कर पाते हैं।

कभी याद पड़ता है कि मैं उनसे पहली बार शायद भारतीय भाषा परिषद् के हिंदी उर्दू कथा कुम्भ, 2006 में मिली थी। कई बार लगता है कि वह तो कोई मुकम्मल मिलना था भी नहीं, उनसे असली मिलना तो कई सालों बाद हुआ था जिसका जिक्र इसी संस्मरण में आगे करूंगी। खैर सदेह मिलना चाहे बाद में हुआ हो, पर एक अरसे से मैं उन्हें पढ़ रही थी। उनको पढ़-पढ़ कर मैं सोचना सीख रही थी, खुद को और दुनिया को देखना सीख रही थी। समय और दुनिया से अपने संबंधों के बारे में पड़ताल करना सीख रही थी। कहानियां मैं पहले भी पढ़ती रही थी, पर मृदुला जी की कुछ कहानिया ऐसी विलक्षण थीं कि जिन्हें पढ़ते-पढ़ते मैं देखने भी लगी थी। गहरे यथार्थ बोध की इनकी कहानियों ने मुझे आसपास देखना सिखाया। जीवन को और नयी दुनियाओं को मेरे सामने खोला और खुलते-खुलते कब यह वितान समकाल से सभ्यता के आदिम पायदान तक पंहुच गया, पता ही न चला। अंततः उनकी विनाश दूत, गोभी का तोड़ और जूते का जोड़, जहाँ कमलिनी खिलती है, बेंच पर बूढ़े, क्षुधापूर्ति, टुकड़ा-टुकड़ा आदमी जैसी कहानिया ही मेरी प्रिय बनी जो मानवीय सच्चाइयों की बुलंद आवाज़ थीं। जिन्होंने हाशिये पर खिसकी पीड़ित मानवता की सुध ली। जिन्होंने अपने स्व को पहचान एक बेहतर इंसान होने में मेरी मदद की, देश और दुनिया के अँधेरे को रौशन किया।

पिछले कई दिनों में मैंने एक चीज नोट की है कि अधिकांश आलोचकों ने मृदुला जी को स्त्री पुरुष संबंधों पर लिखने वाली लेखिका के रूप में रेखांकित किया है। कुछ आलोचकों ने यह भी कहा है कि घोषित रूप से स्त्रीवादी लेखिका नहीं होने के बावजूद मृदुला जी ने हिंदी साहित्य को ऐसी बोल्ड नायिकाएं दी हैं जिन्होंने नैतिकता के चले आ रहे परम्परागत ढांचों को तोड़ा है और दमक कर पूछा है कि मैं कौन हूँ और क्या है मेरी पहचान? इन नायिकाओं ने पहली बार अपने स्व की तलाश की। मैं मानती हूँ कि ये सब मुद्दे मृदुला जी के लेखन में है, लेकिन उनके लेखन में सिर्फ स्त्री संबंधी मुद्दे ही नहीं हैं। उनके लेखन की रेंज बहुत व्यापक है। वे धरती की ध्वनियों को सुनने वाली जीवन की लेखिका है। अपने महत्वपूर्ण उपन्यासों में वे अपने समय और समाज के बड़े बड़े सवालों से टकराती हैं। मानवीय अस्तित्व के बुनियादी सवालों को उठाती हैं। उदार विचारों के बीज बिखेरती हैं। उन्होंने पर्यावरण पर सवाल उठाए, प्रदूषण पर सवाल उठाए, सत्ता की अमानवीयता, जातिवाद, सामाजिक अन्याय और विषमता पर सवाल उठाए और सबसे बढ़कर वे पीड़ित मानवता की प्रवक्ता बनकर सामने आती हैं। वे कहती हैं 'घटित अनुभव चाहे मेरा हो चाहे किसी और का, उससे उत्पन्न मानवीय पीड़ा मेरी अपनी होती है और वही मुझसे सृजन करवाती है'। यह बिडम्बना ही है कि फार्मूला बद्ध सोच के शिकार हमारे आलोचक उन्हें स्त्री पुरुष संबंधों की लेखिका के रूप में मान्यता देते हैं। उनपर टैग लगाकर उनके लेखन को दायरे में बांध देते हैं शायद इसलिए कि अपने समय और समय की राजनीति को समझती और उस पर लिखती औरत व्यवस्था और पितृसत्ता को सहज स्वीकृत नहीं हो पाती है।

बिडम्बना यह भी है कि उन्होंने ढ़ेरों कहानियां लिखी हैं लेकिन चर्चा के केंद्र में कौन सी कहानियां रहीं? वे ही कहानियां जो स्त्री मुद्दों पर लिखी गयी या स्त्री पुरुष संबंधों पर लिखी गयी जैसे 'हरी बिंदी', 'डेफोडिल्स जल रहे हैं', 'वितृष्णा', 'वो दूसरी', 'समागम', 'कितनी कैदें' जैसी कहानियां। सच्चाई का एक पहलू यह भी है कि मृदुला जी ने ढ़ेरों उपन्यास लिखे। सार्वभौमिक, दार्शनिक और जीवन दृष्टि से भरपूर उपन्यास 'कठगुलाब' लिखा तो 'अनित्य' जैसा राजनैतिक और ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखा जिसने अपने समय में पर्याप्त प्रशंसा भी बटोरी लेकिन चर्चा के केंद्र में हमेशा रहा उनका उपन्यास चितकोबरा, जिस पर कमाल और बबाल दोनों मचा। सवालों के घेरे में भी हमेशा वही रहा। क्या इसीलिए

कि उसकी कहानी के केंद्र में अवैध प्रेम रहा। लेकिन अवैध प्रेम पर तो बहुतो ने लिखा तो क्या इसलिए कि उसकी नायिका के अंदर कोई अपराध भावना नहीं थी। वह पति और प्रेमी दोनों की दुनिया को एक साथ संभाल रही थी, या फिर इसलिए कि सम्भोग के चरम पलों में उसका दिमाग और उसका दिल अलग अलग काम करता था। और इस प्रक्रिया में कहीं कहीं उसका पति एक वस्तु के रूप में तब्दील हो गया था। इस उपन्यास पर अश्लीलता के आरोप भी लगे जबकि बकौल लेखिका 'मेरे लिए वह बहुत ही पाकीजा उपन्यास था क्योंकि उसमें आधा सच बोलने की कोई गुनहगार कोशिश नहीं की मैंने' मजे की बात देखिये कि चितकोबरा (1979) का वह अंश, जिसके लिए मृदुला गर्ग पर वारंट जारी किया गया था, उन्होंने दसेक वर्ष पहले दिल्ली में ब्रिटिश काउंसिल के सेमिनार में पढ़कर सुनाया था। तब आश्चर्य हुआ था कि इसमें अश्लील क्या है? हिंदी की दुनिया में मृदुला गर्ग अपने समय से आगे की लेखिका हैं।

बहरहाल मित्रों, पिछले दिनों मृदुला जी का एक कहानी संग्रह संयोग से मेरे हाथों में आया जिसे 2006 में पेंगुइन सीरीज ने निकाला था। उसमें करीब पंद्रह कहानियां हैं और आप देखिये कि इसमें कोई भी कहानी ऐसी नहीं है जिसे आप स्त्री पुरुष संबंधों की कहानियां कह सकें। अधिकांश कहानियों में वे मानवीय त्रासदियों के विभिन्न पहलुओं की पड़ताल करती हैं। इतिहास और भूगोल के कई संदर्भों से गुजरती है ये कहानियां जिन्हें पढ़ते हुए कई शताब्दियाँ आपकी आँखों के सामने घूमने लगती हैं, क्योंकि ये वे कहानियां हैं जहाँ वे समय को मात्र दर्शक की तरह देखती भर नहीं हैं, बल्कि उसे आत्मसात करती हुई लेखिका स्वंय ही समय बन जाती हैं।

एक कहानी का जिक्र करना चाहूंगी जिसका शीर्षक है- 'गोभी का तोड़ और जूते का जोड़'। आप देखिये जीवन और माटी से फूटती, यथार्थ की बारीक पकड़ और कल्पना की उन्मुक्त उड़ान भरती यह कहानी किस कदर जीवन पर भरोसा जगाती है। जब मैं यह कहानी पढ़ रही थी तो मुझे अदम गोंडवी का एक शेर याद आ रहा था जिसमें वो कहते हैं 'आइये महसूस कीजिये जिंदगी के ताप को/मैं ले चलता हूँ चमारों की गलियों में आपको'। मृदुला जी इस कहानी में जिंदगी के ताप को महसूस कराती है। एक हैं मुंशी जी और एक हैं मोची जी। दोनों विद्रोही तेवर के हैं, दोनों के पुत्र बड़े-बड़े अफसर बन गए हैं। लेकिन दोनों खुद्दार हैं, अपनी जीविका खुद अर्जित करते हैं। जो मुंशीजी हैं वे रिटायर होकर बागवानी करते हैं। एकबार उनके द्वारा उगाई गयी गोभी को पुरस्कार मिलता है। गदगद होकर वे गोभी की तस्वीर को दीवार पर टांगते हैं और उसको माला पहनाते हैं। उनका दोस्त चुटकी लेता है कि यार तुमने तो गोभी को माला पहना दी लेकिन मेरे को तो जीविका जूते से मिलती है तो क्या मैं भी जूते को माला पहना दूँ? मुंशी जी जवाब देते हैं कि तुम ऐसा हर्गिज मत करना यदि तुमने जूते को माला पहना दी तो गाँव के सारे ब्राह्मण तुमको जूता मारेंगे। जूता यहाँ एक प्रतीक है। कहानी चुटीले संवादों के माध्यम से, दोनों की नोकझोंक के माध्यम से आगे बढ़ती है और इसी के माध्यम से लेखिका बिना लाउड हुए बताती है कि हमारी सामाजिक व्यवस्था में किस प्रकार जातिवाद का जहर फैला हुआ है। कहानी आगे बढ़ती है और मोची की मृत्यु हो जाती है। आप देखिये कि लेखिका कितनी चतुराई से मृत्यु को चुनती है क्योंकि मौत ही एक ऐसा अवसर है जब भारतीय समाज का सबसे अधिक कर्मकांड सामने आता है। मुंशी जी को याद आता है कि मोची की इच्छा थी कि जूते को माला पहनाई जाए यानी उनके काम का सम्मान किया जाए तो वह उनके घर के आगे कील ठोकता है उसपर जूता टांगता है और उसे माला पहना देता है। तो इस प्रकार लेखिका ब्राह्मणवाद और जातिवाद का एक प्रकार से मजाक उड़ाती है।

मृदुला जी की एक और कहानी मेरी चेतना में दस्तक दे रही है, कहानी का शीर्षक है 'विनाश दूत'। जीवन से मुठभेड़ करती इस कहानी की चेतना आप देखिये किस प्रकार विश्व चेतना को छूती है। यह कहानी 1985 में लिखी गयी थी। जिसका आधार था- भोपाल गैस त्रासदी। बड़ा लेखक किस प्रकार भविष्य द्रष्टा होता है और बड़ी कहानी कैसे बड़े सवाल उठाती है, विचारों के बीज बिखेरती है और आगे आने वाले संकटों से हमें आगाह करती है, इस कहानी को पढ़कर आप समझ सकेंगे। जिस समय यह कहानी लिखी गयी थी उस वक्त कॉरपोरेट पूँजी इतने व्यापक पैमाने पर हमारे देश में नहीं आयी थी। लेकिन इस कहानी में लेखिका आगाह करती है कि कॉरपोरेट पूँजी का आधार चूंकि फायदा होता है इसलिए वह कभी मानव हित में काम कर ही नहीं सकती है। वैश्विक संदर्भों से भरपूर इस कहानी ने सरहद पार अनेक देशों की यात्राएं की हैं। सबसे पहले अमेरिका की पत्रिका फिक्शन इंटरनेशनल में इस कहानी का अनुवाद हुआ जिसकी टाइटल थी- नोट लव इन भोपाल। वहां पर इस कहानी का पाठ हुआ। फिर जर्मनी में जर्मन भाषा में इसका अनुवाद हुआ। इटली के मिलान शहर में इस कहानी का पाठ हुआ। पहुँचते- पहुँचते यह कहानी चायना में भी पहुंची। दिलचस्प बात यह देखिये कि हमारे हिंदी जगत में इस कहानी की चर्चा शायद ही कभी हुई हो।

मृदुला जी का एक और बेहतरीन उपन्यास मेरी चेतना में दस्तक दे रहा है जिसको उसका देय नहीं मिला और जिसकी चर्चा भी बहुत कम हुई है- 'मैं और मैं'। अपने समय से संवाद करते इस उपन्यास में लेखिका यह दिखलाती हैं कि व्यवस्था की अमानवीयता किस प्रकार एक जीनियस से उसके अपराध बोध, उसकी गरिमा उसके नैतिकता बोध सब कुछ को छीन लेती है। उपन्यास का एक संवाद है, 'खुशहाली और किसे कहते हैं? इतने ढ़ेरों हाथ और इतना कम काम। एक काम को हासिल करने को बेकरार बीस हाथ। जितने ज्यादा हाथ, उतने कम दाम। दाम गिराते चलो और कम दाम हाथों में से एक जोड़ी दमदार हाथ चुन लो, इतने कम दाम पर कि हाथ काम तो करें पर पेट भरे नहीं।'

अहमद फराज के साथ

प्रतिभा राय के साथ

निर्मल वर्मा के साथ

चन्द्रकांता के साथ

कहानी में एक पात्र है माधवी जो उच्च वर्ग से आती है जो लेखिका है। एक और पात्र है कौशिक जो विपन्न है लेकिन जीनियस है। दोनों को दोनों की जरूरत है। लेकिन दोनों के बीच फैला है जिंदगी का दुच्चापन। लेखिका को लेखकीय परामर्श के लिए जीनियस की जरूरत है। जीनियस लेखिका का शोषण करता है, उससे झूठ बोलता है। उससे धन हड़पता है। बड़ी कलात्मकता से लेखिका यह बताने में कामयाब होती है कि आपकी समस्त प्रतिभा, सारा हुनर, सारी विद्वत्ता बर्बाद होने को अभिशप्त है यदि आपमें बुनियादी मानवीय मूल्य नहीं हैं। धीरे-धीरे समय का कीचड़ नायिका को भी छूने लगता है। वो भी सारे दांव पेंच सीख जाती है और कौशिक को उसी के दावं पेच का प्रयोग कर उसी की भाषा में जवाब देती है, जिसके बाद कौशिक का नर्वस ब्रेकडाउन हो जाता है। मानव स्वभाव और विवेक पर अचूक पकड़ है लेखिका की। नामवर जी ने भी अपने वक्तव्य में कहा था कि वितृष्णा का इतना गहरा और व्यापक प्रभाव इसके पूर्व किसी हिंदी उपन्यास में नहीं पढ़ा था उन्होंने। इतनी वितृष्णा जागती है नायिका के भीतर कि उसकी सारी संवेदना, सारी कोमलता, संवेदना, सहानुभूति सबकुछ पर जैसे बुलडोज़र चल जाता है, यहाँ तक कि जिस हरिचरण के लिए वह कितनी ममत्व से भरी रहती थी उसके लिए भी वह निर्मम हो जाती है। अपनी माँ की मृत्यु भी उसे गहरे तक छू नहीं पाती है।

लेखिका यहाँ अनजाने ही एक बड़े मनोवैज्ञानिक सत्य की ओर अंगुली रखती है कि जब स्त्री के भीतर सौंदर्य और प्रेम की अलख जगती है तो सारी दुनिया के प्रति उसका प्रेम भाव बढ़ जाता है लेकिन जब उसके भीतर का सौंदर्य और कोमलता कुचल दी जाती है तो सारी दुनिया के प्रति वह वितृष्णा से भर उठती है। बेहद रोचक और व्यंग्यात्मक शैली में लिखा गया यह उपन्यास पाठक को भावात्मक और वैचारिक दोनों धरातलों पर झिंझोड़ता है। एकदम जासूसी उपन्यास जैसा चलता है, दम थामे पढ़वा ले जाता है यह उपन्यास मगर चलता है भावना के स्तर पर, चलता है जीवन दर्शन के स्तर पर। चलता है मनोविज्ञान के स्तर पर। सामाजिक सरोकारों के स्तर पर।

जटिलताओं से भरा विलक्षण चरित्र गढ़ा है लेखिका ने कौशल कुमार का जो कमीनगी और प्रतिभा का अद्भुत मेल है जो आइस पाइस खेलता माधवी के मानसिक संतुलन के परखच्चे उड़ा देता है। एक जगह माधवी कहती है, 'इस आदमी का पेट नहीं भरेगा। यह वह जोंक नहीं जो भरपेट खून चूस लेने पर फूला पेट लिए नीचे गिर पड़े। जोंक की तरह यह सहज प्रवृति से शोषण नहीं करता। यह आदमी का बच्चा है, लिहाजा एक दिमाग भी है इसके पास। सोचने विचारने की शक्ति, तर्कबुद्धि, स्वार्थपरक विवेक बुद्धि, कुटिल जीवन दर्शन, बहुत सारे मददगार है इनके'।

जाने कितनी नदियों का पानी मिला हुआ है मृदुला जी की शख्सियत में कि वे जब भी लिखती है उनकी खूँटी में पूरी दुनिया सिमट जाती है। उनका लेखन दर्शन और चिंतन में रूपांतरित होता जाता है। जाने कितने वैश्विक संदर्भों को समेटे हुए है उनका उपन्यास कठगुलाब। जब पढ़ते हैं इस उपन्यास को तो देश और दुनिया की जाने कितनी परतें खुलती जाती हैं हमारे सामने। अपनी जादुई कलम से लेखिका असफल मातृत्व की समस्या को उठाते हुए देश और दुनिया के सभी विराट दिखने वाले लोगों के वासना से खलबलाते अंधेरों कोनों और जिंदगी के तूफानों में खोए साधारण दिखने वाले लोगों के असाधारण हौसलों और जीवटता पर टॉर्च फेंकती है। यह बिडम्बना ही रही कि ऐसे बड़े फलक और रेंज वाले उपन्यास को स्त्री विमर्श के खाते में डाल दिया गया। फिर भी बेहद प्रशंसा बटोरी है इस उपन्यास ने। कई कई भाषाओं में उसका अनुवाद भी हुआ।

उनका शुरूआती उपन्यास 'उसके हिस्से की धूप' भी मेरे मन के बहुत करीब लगा शायद इसलिए कि जीवन दर्शन से भरपूर अपनी आत्म का अनुसंधान है यह उपन्यास। जाने कितने छोटे बड़े जीवन सूत्र समेटे हुए है यह उपन्यास जिसका सार तत्व है 'जीवन में प्रेम है, प्रेम में जीवन नहीं। स्त्री अपने होने की सार्थकता पुरुष के प्रेम में नहीं, बल्कि अपने भीतर की उस तरंग को पहचानने में करे जिसके लिए वह आयी है इस धरती पर'। नहीं कह सकती कि इस अकेले एक उपन्यास ने मेरे दिमाग के जाने कितने जालों को साफ किया।

बहुत कम लोगों को पता है कि अभी हाल ही में एक फ्रेंच प्रकाशक के आग्रह पर मृदुला जी ने कोरोना पर एक विस्तृत आलेख लिखा है, जिसका शीर्षक है 'बिटवीन नेचर एंड मैन'। इस आलेख का वृत्तांत सभ्यता के आरम्भ से लेकर इस मरती हुई सभ्यता तक फैला हुआ है।

कुछ भी तो नहीं छूटता उनकी कलम की रडार से। वे कीचड़ को कमल से अलग कर देखने वाली आँखें नहीं हैं। वे चाँद पर मुग्ध हैं तो जन जन की भूख से द्रवित भी। सत्ता की क्रूरता पर आक्रोशित भी। अभी हाल ही में उन्होंने वरवर राव पर एक कविता लिखी है। पढ़िए उसके कुछ अंश, आप देखेंगे कि समकालीन भारत का आइना है उनका साहित्य जहाँ वे मानवीय तकलीफें लिखती हैं और उम्मीदें रचती हैं। कविता का शीर्षक है, वरवर राव होना

यह होता ही रहता है इस मुल्क में
क्यों आज हम अपराध बोध से भरे हैं
फ़नकार ज़िबह होते ही रहते हैं
बाज़ जो नहीं आते वह करने से
जो हम कहने से कतराते हैं
पर आज हद हो गई
सरकार बज़िद है
वरवर राव क़ैद से रिहा होंगे तब
जब दुनिया से कूच कर जाएं
रिहा कर देती तो हम शान्त रहते
चाहे वे कुछ ही दिन जीवित रहते
हम कोविड को गुनहग़ार बतलाते
कोविड को बड़ी उम्र से जोड़ देते
एक बहाना ही तो चाहिए था
कि गुस्सा न फनफनाए भीतर
कहीं हम सड़क पर न उतर आएं
हम मध्यवर्गीय सभ्य लोग
अरे अभी मंदिर बना है न
अयोध्या में नया नकोर
अभी वक्त कहाँ है ग़दर के लिए
हाँ, रोना चाहो तो रो लो। आज़ाद हो
कोई नहीं रोकेगा छाती पीट रुदन से
इस रुदन को रुदाली कहते हैं
यह रोने के लिए रोया जाता है
कीमत वसूल करके रोया जाता है
माहिर हैं हम अफ़सोस जतलाने में
अफ़सोस करने में नहीं
वरना...

आसान नहीं है
क्रान्ति और रस का मिलन
जैसे वरवर राव होना।
वरवर राव इंसान नहीं विचार है
आओ हम सब वरवर राव हो जाएं
भूल जाएं रटे रटायें रचना के नियम

किसानों की तरह क्रान्ति गीत गाएं
क्रान्ति के अद्भुत और वीर रस में
लीन हो जाएं....वरवर राव हो जाएं

मृदुला जी की यह कविता रचनाशीलता के दायित्वबोध को स्पष्ट करती है। भारत के सबसे बड़े क्रांतिकारी कवि के पक्ष में लिखी गई कविता प्रतिरोध और मानवता की रक्षा की प्रतीक कविता है। वैसे ही किसानों पर लिखी उनकी कविता जिसमें किसानों का दर्द बड़े मार्मिक रूप से उभरा है, की कुछ पंक्तियों को यहाँ देने का लोभ मैं संवरण नहीं कर पा रही हूँ। कविता का शीर्षक है 'धुँधला देखने की आदत'

पर देखो तो... धुंधलका छँट गया।
अब मैं... आप... सब... देखे सकेंगे
खिली चमकीली रोशनी में
अपना और सबका सच
बेपर्दा, बेलौस, बेखौफ...
कर सकेंगे आंदोलन जन जन के लिए
आज, हर हिन्दुस्तानी बना .....फिर एक बार किसान है।

एक जनता का लेखक और उनकी सामयिक युग चेतना ही गढ़ सकती है ऐसी कविता। घटनाओं, चरित्रों और लोगों को देखने की एक मौलिक दृष्टि है उनके पास। स्त्री यात्रियों पर लिखी गयी एक किताब की भूमिका में लिखा है उन्होंने- सीता पहली यात्री थी जो अपने पति के साथ अपनी मर्जी से वनों में गयी।

अपने समय से आगे की लेखिका मृदुला जी के अंग्रेजी में लिखे 2017 में आए उपन्यास 'दि लास्ट ईमेल' की चर्चा अप्रासंगिक नहीं होगी। सबसे पहले तो लोगों ने इसपर ही आश्चर्य किया कि उपन्यास अंग्रेजी में क्यों? जवाब शायद यही हो कि सरस्वती जिस रूप में आयी उनके भीतर उसी रूप में उन्होंने उसे अभिव्यक्ति दी। खुद मृदुला जी के अनुसार- इसे हिंदी में लिखना एक प्रकार से अंग्रेजी से अनुवाद करना होता क्योंकि उपन्यास के दोनों पात्र अंग्रेजी में ही ईमेल के जरिये संवाद करते हैं। बकौल अलका सरावगी, प्रेम- वह भी एक विदेशी से, प्रेम के सांस्कृतिक पक्ष भले ही कुछ भिन्न हों- पर उसकी तन और मन में व्याप्ति की सघन स्मृति इस उपन्यास का कथ्य है।

कमलेश्वर और चित्रा मुद्गल के साथ

बहरहाल अब थोड़ी बाते मृदुला जी के व्यक्तित्व पर! मित्रों मृदुला जी को मैंने तब जाना जब उनकी जिंदगी के आधे से ज्यादा खूबसूरत परिंदे उड़ चुके थे। लेकिन उनसे मिलने के बाद मुझे अहसास हुआ कि जिनका जीवन कलम, दवात, कागज़ और संवेदना का स्वप्न घर होता है वे कभी उम्र में नहीं जीते हैं। ऐसे लोगों का जीवन बीज से महावृक्ष बनने का एक ऐसा सफरनामा होता है जहाँ सत्य, संवेदना और सौंदर्य कभी चूकते नहीं हैं और जीवन कभी अपना अर्थ खोता नहीं है। जब पहली बार मैं उनसे मिलने गयी तो मन थोड़ा डरा हुआ था- पीपर पात सरिस मन डोला। आशंकित थी कि पता नहीं वे मुझसे किस प्रकार मिलेंगी, क्योंकि उनसे पहले मैं एक महान लेखक से मिलने गयी थी उमंगित होकर, उत्साहित होकर। और जब मैं उनसे मिली तो मेरे सारे रोमांच, उत्साह और उमंग पर बिल्ली पंजा मार गयी। मुझे लगा कि मैं एक हाड मांस के लेखक के सामने नहीं बल्कि अलब्रेयर कामू के अजनबी के सामने खड़ी हूँ। बहरहाल जब मैं मृदुला जी से पहली बार समय लेकर मिली तो यह मेरा सौभाग्य ही था कि मंद मंद हवा बहती रही। हरशृंगार झड़ते रहे। नहीं जानती थी कि उन लम्हों में एक नयी इबारत लिखी जा रही थी, हमारी दोस्ती के नाम जहाँ न उम्र बाधक थी और न ही मेरी अल्पज्ञता।

महीप सिंह के साथ

आज जब मैं मृदुला जी से होनेवाली वह पहली मुलाकात याद कर रही हूँ तो मुझे एक संस्मरण याद आ रहा है जिसे एक पत्रकार ने अपने समय के दो महान व्यक्तित्व की तुलना करते वक्त लिखा था। वो पत्रकार लिखता है कि नेहरू जी विराट व्यक्तित्व सम्पन्न थे। वे जिस समय महफ़िल में आते थे तो अलग से नज़र आते थे। वे जब चलते थे तो एक प्रभा मंडल उनके साथ चलता था। लेकिन उनके व्यक्तित्व में एक खासियत यह थी कि जब बड़ा से बड़ा सूरमा भी उनसे मिलने पहुंचता और जब वह उनसे मिलकर लौट कर आता तो उसके सरोवर का पानी घट जाता। वो इक्कीस से उन्नीस हो जाता। नेहरू जी के ही समानांतर महात्मा गाँधी जी का व्यक्तित्व था। वे भी विराट व्यक्तित्व थे, लेकिन वे जब किसी महफ़िल में आते थे तो महफ़िल का हिस्सा बन जाते थे। एक आम आदमी बन जाते थे। और इसी कारण जब भी कोई आम आदमी उनसे मिलने जाता तो उसके सरोवर का पानी थोड़ा बढ़ जाता। वह उन्नीस से इक्कीस हो जाता। मृदुला जी मेरे लिए नेहरू जी नहीं थी, वे मेरे लिए आम आदमी की छवि वाली महात्मा गाँधी थीं।

इसका अहसास मुझे दो बार हुआ। पहली बार तब हुआ जब मैंने उन्हें अपना उपन्यास 'सेज पर संस्कृत' भेंट किया। मुझे उम्मीद तो नहीं थी कि वे पढ़ेंगी लेकिन कुछ दिनों बाद ही मेरी जब उनसे दुबारा बात हुई और मैंने जब सकुचाते हुए पूछा कि मेरा उपन्यास उन्हें कैसा लगा तो उन्होंने एक पंक्ति में जवाब दिया- काश! यह उपन्यास मैंने लिखा होता! आप मेरा यकीन मानिये कि मैं आसमान से गिरी क्योंकि मेरे लिए वह महज एक पंक्ति नहीं थी, मेरे लिए वह एक संजीवनी थी, एक प्राणवायु थी। जिसने मेरे गिरते हुए लेखकीय आत्मविश्वास को उठान दी थी। उसके बाद तो मुझे लगा कि साहित्य, प्रतिष्ठता और विद्वता के बावजूद मैं उनके साथ कम्फर्टेबल जोन में हूँ। मेरी अँधेरी कोठरी का वे रोशनदान बन गयी थी। अब तो जब जब उदासियाँ मुझे दबोच लेती, कुहासा मुझे घेरता मैं उनकी मुंडेर पर जा पहुंचती। हमारी खूब बातें होती, साहित्य पर भी होती और दूसरे विषयों पर भी होतीं। हमारी बातें गाँधी पर

होती, अंबेडकर पर होती, अविभाजित युगोस्लाविया पर होती, चे ग्वेरा पर होती, मोदी जी पर होती, अमित शाह पर होती, यहाँ तक की आम आदमी पार्टी पर भी होती। कई बार मन डरता कि कहीं मेरी मूर्खता पूर्ण बहस से वे संवाद करना ही बंद न कर दें पर वे तो खुला आसमान थीं, बिना किसी श्रेष्ठता ग्रंथि के वे धैर्य पूर्वक मेरी बकवास सुनती, फिर मुझे समझाती, मेरे कन्फ्यूजन और कुहासों को छांटती। मेरी मूर्खताओं को ध्वस्त करती। मैं हर बार उनकी राजनैतिक सूझ बूझ और उनकी बौद्धिकता को देख कर चकित होती रहती।

उनसे हर संवाद के बाद मैं एक बदली हुई मैं होती!

एक विराट होती! एक वृहत्तर मैं!

अपनी असमर्थताओं और क्षुद्रताओं से ऊपर उठती!

अपनी संभावनाओं से मुलाकात करती मैं!

पर मेरी आत्मा तृप्त हो जाती जब वे टाइम और स्पेस की सबसे शानदार चोटी पर खड़ी होकर विगत की ओर देखती हुई अपनी माँ, मंजुल भगत, अपने साहित्यिक मित्रों राजेंद्र यादव, जैनेन्द्र कुमार, कृष्णा सोबती, सुनीता जैन और विशेषकर अपने प्रिय मित्र मनोहर श्याम जोशी पर बात करती। उनके चित्त के उपवन में वनफूल सी महक उठती थीं उनकी स्मृतियाँ, उनकी रस पगी बतियाँ। वे जैसे फिर फिर जीती जीवन के उन इंद्रधुनषी लम्हों को, अपने हृदय के सारे रस, सारे कोमल भाव, सारे माधुर्य और धरती के सारे सौंदर्य को उन पर उंडेलती हुई वे कविता रचती। उन लम्हों उनको सुनना भोर के उजास में जंगल से गुजरने जैसा होता। सौंदर्य को अपनी रूह में भरना होता! उनको सुनते हुए मेरी क्षुद्रता, कुंठा, अवसाद और खिन्नता के सारे पत्ते झड़ जाते।

अपनी माँ के लिए 'मेरी कथा यात्रा' में वे लिखती हैं- उसमें खूबसूरती, नजाकत, गैर दुनियादारी के साथ ईमानदारी और निष्पक्षता कुछ इस तरह घुली मिली थी कि वे पारिजात से कम जादुई नहीं मालूम पड़ती थीं। पर इन खूबियों से सिर्फ 'नजाकत' को माइनस कर बौद्धिकता को जोड़ दिया

खुशवंत सिंह एवं विदेशी लेखकों के साथ

जाए तो क्या खुद मृदुला जी उनकी गढ़ंत नहीं हैं?

अपनी पुस्तक 'कृति और कृतिकार' में भी उन्होंने मनोहर श्याम जोशी का अद्भुत शब्द चित्र उकेरा है। कृष्णा सोबती पर लिखा उनका एक वाक्य मुझे बहुत प्रिय है जहाँ वे जैनेन्द्र के कथन 'कृष्णा सोबती के साहित्य में सेक्स का जश्न है' के जवाब में जवाब देती है कि 'जश्न सेक्स का नहीं भाषा का है'। उसी पुस्तक में उनका एक और मौजूं वाक्य है 'मेरे ख्याल से हिंदी साहित्य जगत में फ्लर्ट करने की कला सिर्फ दो जन जानते हैं- राजेंद्र यादव और मनोहर श्याम जोशी'। बहरहाल उनको सुनते सुनते मैं भी जैसे उन लम्हों को जीने लगती। मन शीतल हो राग द्वेष से ऊपर उठ जाता। कुछ समय के लिए ही सही मेरे भीतर की उफनती अशांत लहरें सम पर आ जातीं। ताज्जुब वह समय अपने नायकों के साथ मेरी धमनियों में भी बहने लगता!

उनके बड़प्पन का दूसरा अहसास मुझे तब हुआ जब मुझे 2018 का बांदा का 'प्रेमचंद स्मृति सम्मान दिए जाने की घोषणा हुई। मैंने मृदुला जी से बिना पूछे ही आयोजकों से अनुरोध किया कि मैं यह सम्मान मृदुला जी के हाथों लेना चाहती हूँ। यह 2019 की बात है। बांदा जैसी छोटी जगह में जाहिर है ट्रेन से ही जाया जा सकता था। आयोजक असहज हो रहे थे, उन्हें लग रहा था उम्र और स्वास्थ्य के मद्देनज़र मृदुला जी शायद ही हाँ करें। लेकिन मेरी सविनय जिद्द के आगे उन्हें मृदुला जी से अनुरोध करना पड़ा। इधर उन्होंने सहमते हुए आग्रह का तार खींचा उधर मृदुला जी ने 'तथास्तु' कहा। दिल्ली से पूरे रात भर की यात्रा कर वे बांदा आयीं। कर्मयोगी की तरह अपना काम किया, मुझे शॉल ओढ़ाया, मुश्किल से पांच छह घंटे वे ठहरी बांदा में और अपने गिरते स्वास्थ्य के साथ रात भर की रेल यात्रा कर वापस। लेकिन इस अवसर पर पूरी तैयारी के साथ उन्होंने जो वक्तव्य दिया मेरी रचनात्मकता पर वह मास्टर पीस ही था। लेकिन उनके हृदय की विशालता तो सामने आनी अभी बाकी थी।

स्त्री दर्पण की तरफ से आयोजित 'मधु कांकरिया के जन्मदिन पर 23 मार्च 2021 को मृदुला जी ने जो वक्तव्य दिया, रोहिणी अग्रवाल के शब्दों में वह तो 'न भूतो न भविष्यति' ही था। क्या एक वरिष्ट लेखक अपने कनिष्ट लेखक को दे सकता है यह सम्मान?यह स्नेह?यह आदर? यह प्रशंसा? इतना समय? मैं सचमुच अवाक थी! अभिभूत थी। जाने कितने वोल्टेज का करंट मुझे छू गया था। ममता कालिया एवं विजय कुमार जी ने भी मृदुलाजी की इस उदात्तता और अंदाज़ पर फेसबुक में पोस्ट डाली थी और उस वक्तव्य को अविस्मरणीय बताया था विशेषकर ऐसे समय में जब लेखिकाएं एक दूसरे की प्रशंसा में इतनी उदार नहीं रही थीं। मुझे ताज्जुब हुआ कि कब पढ़ लिया उन्होंने मुझे समग्रता में? सारे उपन्यासों, महत्वपूर्ण कहानियों और यहाँ तक यात्रा वृतांतों को भी समेटना वे न भूली। हर रचना के मर्म तक वे पहुंचीं। इतनी आत्मीय, गहन, सूक्ष्म और रेशा रेशा पड़ताल मेरी रचनात्मकता की! आज भी पलकों की झालर भींग जाती हैं जब फिर फिर सुनती हूँ उनके वक्तव्य को।

एक बड़ा लेखक अपने आचरण, विचार, व्यवहार, उदारता, अध्ययन, मेहनत और सबसे बढ़कर अपनी उदार संवेदना से हमें संस्कारित करता

विदेशी लेखकों के साथ

है। हमारी दुनिया को थोड़ा न और खूबसूरत बनाता है।

उसी दौरान उन्होंने मुझे साहित्य का मूल मंत्र दिया कि बड़ा साहित्य सदैव कला के भीतरी आलोक से आलोकित होता है और कला के गहन पलों में कोई भी लेखक अपनी संवेदना को स्त्री और पुरुष के सांचों में नहीं बांटता है। और यह भी कि लेखक की दृष्टि का कोई लिंग नहीं होता। वह दृष्टि होती है, स्त्री की हो सकती है, पुरुष की हो सकती है। और पुरुष द्वारा भी स्त्री का जबर्दस्त चित्रण हो सकता है जैसे जैनेन्द्र के उपन्यासों में है और स्त्री भी पुरुष का बहुत बढ़िया चित्रण कर सकती है। इस मूल मंत्र ने मेरी बहुत सहायता की। धीरे धीरे मेरी लालसा बढ़ती गयी। मेरा मन हुआ कि झाँका जाए उनके घर आँगन में। देखा जाए कि मृदुला जी अपने निजी जीवन में कैसी हैं और जीवन के प्रति उनका नजरिया कैसा है। मेरी अभिलाषा भी पूरी हुई। दुआओं जैसे दो दिन मेरे आँगन में भी उतरे जब दिल्ली में पूरे दिन उनके साथ दो बार रहने का मौका मिला। मैंने उन्हें भरपूर देखा, उनके घर आँगन को देखा और देखी उनकी मेहमानवाजी। कलम की उन मल्लिका के घर से आप तो आप आपका ड्राइवर तक बिना खाए पीये नहीं लौट सकता। मैंने देखा कि वे आज भी एक योद्धा हैं। अकेली है लेकिन अपने एकांत को उन्होंने अपनी आंतरिक शक्ति में बदल दिया है। वे विश्राम करने में विश्वास नहीं करती हैं। कुछ लोग होते हैं न कि वे सोने की तैयारी में ही रात बिता देते हैं- नींद से मेरा तअल्लुक़ ही नहीं बरसों से/ख्वाब आ आ के मेरी छत पे टहलते क्यों हैं (राहत इंदौरी)

... तो मृदुला जी ऐसी ही हैं। वे या तो लिखती हैं, नहीं लिख रही होती हैं तो पढ़ती हैं, नहीं पढ़ रही होती हैं तो चलती हैं और चलते चलते थक जाती हैं तो अपने भीतर चलने लगती हैं। रात के गहन पलों में भी उनके भीतर का रचनाकार पाखी फड़फड़ाता रहता है। तीर प्रत्यंचा पर चढ़े रहते हैं। व्यथाएं जागती रहती हैं। इसीलिए तो मिलजुल मन उपन्यास का शिल्प उन्हें रात बारह बजे सूझा और सूझते ही वे चुस्त कमांडो की तरह कंप्यूटर पर बैठ गयी। उनका एक पात्र कहता है- सच, व्यस्तता और थकान से बढ़कर नेमत दुनिया में नहीं है। लेखन उनका जीवन है, उनकी मुक्ति है। उनकी स्लीपिंग पिल्स हैं। जीवट देखिये कि सरोवर का जल घटते-घटते एक बार तल तक पहुंच गया, आँखों की सर्जरी हो चुकी थी, देख पाना नामुमकिन था तो भी बोल कर टेप कर बसु का कुटुंब जैसी रचना को अंजाम दे दिया। हार मानना उन्होंने सीखा ही नहीं है। हाल ही में मिलजुल मन का बंगाली अनुवाद छप कर आया है 'मिलोमीसो मन' -

'मैं जब अकेली होती हूँ
अपने को जमा करती हूँ'

खरामा बह रही है आज उनके जीवन की नदी। मेहनती खेवैया की तरह वे आज भी सारे सांसारिक दंद-फंद के साथ लगी हैं उसे खेने में। आज भी वे अपनी रसोई से लेकर कम्प्यूटर, बैंक डिटेल्स, बिजली बिल्स, इनकम टैक्स रिटर्न 2 सबकुछ खुद ही देखती

मंजुल भगत के साथ

गिरिश कर्नाड के साथ

हैं। उनकी दिनचर्या में घर परिवार, पेड़ पौधे, प्रकृति, ईश्वर, योग, ध्यान, दवा-दारु, चाय नाश्ता, घर मरम्मत यानी दुनिया भर के तमाम गोरख धंधे शामिल है। आप इनको सुबह बारह बजे के पहले फोन नहीं कर सकते हैं, लेकिन इन सारे दंद-फंद के बावजूद मृदुला जी ने अपने वजूद के एक चौथाई हिस्से को बचाकर रखा है जिसके शांत पानी में वे जब तब तैरती रहती हैं, जहाँ वे न किसी की दादी हैं ,न किसी की सास हैं, न किसी की माँ हैं, न किसी की पत्नी है। उस अंतर कक्ष का सिर्फ एक दरवाज़ा खुलता है सीधा साहित्य और जन जीवन की ओर।

बेबाक मृदुला जी ने जाने कितनी बार मुझे खरी खरी भी कही। कभी मेरे शीर्षकों को लेकर तो कभी उपन्यास के अंत को लेकर तो कभी किसी कहानी के कथ्य को लेकर तो कभी मेरी वाचालता पर। हाल में ही हंस में छपी मेरी कहानी 'उलझन' को लेकर उन्होंने मुझे कहा कि लेखिका को अपने अनुभव नायिका पर नहीं थोपने चाहिए। एक दूरी बनाकर रखनी चाहिए। कहानी को दुबारा लिखो तब वह एक मुकम्मल कहानी बन पाएगी। मुझे अच्छी लगती है उनकी बेबाक राय। मेरी दृष्टि और सोच को विस्तार देती हैं वे। मेरी नौका को सुकून मिलता है उसी ठाँव पर।

मृदुला जी के साथ रहना सचमुच सुन्दर भावनाओं, कल्पनाओं, मानवीय विचारों, उजालों और जीते जागते साहित्य, कला और संस्कृति के साथ रहना है। कई बार उनकी बीमारी के चलते जब लम्बे समय तक संवाद नहीं हो पाता तो मन डूबने लगता है। एक बार मेरे पास कोई उपाय नहीं था उनकी कुशलता जानने का तो मैंने अपनी बुद्धि का कुछ ज्यादा ही इस्तेमाल कर देखा कि वे काफी समय तक ऑनलाइन थी, मतलब वे ठीक थीं। मेरी दादागिरी देखिये और मूर्खता भी कि आ बैल मुझे मार की तर्ज पर मैंने लिख भी दिया कि आप तो ठीक हो गए हो। यानी अब बहाना नहीं चलेगा संवाद न करने का। उनका बड़प्पन देखिये कि उन्होंने जवाब दिया कि भाई ऑनलाइन डॉक्टरर्स से व्हाट्स अप्प पर बात करने के लिए होना पड़ता है। मैंने अपनी सफाई दी- उफ्फ हमारी कल्पना भी हमारे यथार्थ के अनुसार ही चलती है। उन्होंने फिर टोका मुझे- अपनी कल्पना को दूसरे के यथार्थ को समझने के लिए तैयार रखना होता है।

इतना जीवंत संवाद कितने वरिष्ठों और कनिष्ठों के बीच होता होगा!

सोचती हूँ यदि मृदुलाजी नहीं रहती मेरी मित्र तो क्या रहता मेरे साहित्यिक जीवन का कुल जमा हासिल?

अभी वे अपनी बीमारी और 76 वर्षीय अपने पति की बीमारी से अकेली ही जूझ रही है।यूं जीवन राग के तार अभी भी कइयों से जुड़े हैं पर बेटे की बात और ही है। बीच बीच में बंगलौर से आता रहता है बेटा। जब आता है तो सूर्यमुखी सी खिल उठती हैं वे। आवाज़ की चहक बता देती है कि बेटा आया हुआ है। पर बहुत ही कम समय के लिए ठहर पाता है बेटा। उनकी भी अपनी व्यस्तता। नौकरी की अपनी सीमाएं। मन डूब जाता है मृदुला जी का जिस दिन बेटा जाता है।

बहरहाल मृदुला जी जैसी शख्सियत जो हमेशा विचारों, भावनाओं और संवेदनाओं की दुनिया में विचरण करती रहती हैं, सत्य, सौंदर्य और प्रेम जिनके हमसफ़र हैं ऐसे लोग कभी भी उम्र में नहीं जीते हैं, ऐसे लोग कभी भी बूढ़े नहीं होते। मृदुला जी भी कभी बूढी नहीं होंगी। आज जिस प्रकार वे कलम से रौशनी बिखेर रही हैं, आनेवाले समय में भी वे बिखेरती रहेंगी। अपनी कलम की आँखों से वे लोगों की तकलीफों को लिखती रहेंगी। उनकी कलम की चेतना उम्मीदों को रचती रहेगी और हम जैसों को अपना ऋणी बनाती रहेगी।

पिछले सप्ताह जब शरीर की दुर्बलता के चलते नौका नदी किनारे ही बंधी रही, अपनी संस्मरण की किताब 'वे नायाब औरतें' जिसके कई अंश महत्वपूर्ण पत्रिकाओं और ब्लॉग्स में निकल काफी प्रशंसित हो चुके हैं और जो लगभग समाप्ति पर है, पर काम नहीं कर पायीं मृदुलाजी तो अपनी पीड़ा को उन्होंने 'oh energy', oh will to live, oh strength, oh wish to finish pending work' जैसे कतिपय शब्दों में उंडेल दिया था। मुझे अनायास ही पिछली सदी के महान कवि शैली की याद आ गयी जिसने भी महज तीन शब्दों 'oh world! oh life, oh time' में अपनी सारी पीड़ा उंडेल दी थी।

महान व्यक्तित्व शायद एक तरह ही सोचते हैं!●

मृदुला गर्ग के हिस्से की धूप

प्रियदर्शन

मृदुला गर्ग जैसी लेखिका पर लिखना आसान काम नहीं है। इस राय के पीछे उनकी वरिष्ठता का आतंक नहीं है, बल्कि यह ख़याल है कि उनका लेखन संसार इतना विस्तृत है कि वह किसी बने-बनाए दायरे में नहीं समाता है। उनका एक स्त्रीवादी पाठ करने की इच्छा और ज़रूरत महसूस होती है, लेकिन ऐसा करते हुए हम पाते हैं कि इस दायरे में उनका काफ़ी-कुछ समाने को तैयार नहीं है। जब हम इससे बाहर चले जाते हैं, तब पाते हैं कि वह स्त्रीवाद अनिवार्य रूप से हमारा पीछा कर रहा है जिसे हम मृदुला गर्ग के संदर्भ में छोड़ने की कोशिश कर रहे थे।

ऐसे में एक कोशिश यह हो सकती है कि मृदुला गर्ग को उन संदर्भों में देखें और समझें जिनके बीच वे बनी हैं और उनका लेखन बना है। वे 1938 में पैदा होती हैं- हिंदी की दो कद्दावर लेखिकाओं- कृष्णा सोबती के 13 बरस, और मन्नू भंडारी के 7 बरस बाद। उषा प्रियंवदा भी उनसे 8 साल बड़ी हैं और राजी सेठ 3 साल। ममता कालिया, सूर्यबाला, चित्रा मुद्गल, नासिरा शर्मा, चंद्रकांता, उषा किरण ख़ान, मालती जोशी- ये अगले दस बरसों की पैदाइश के साथ लगभग समकालीन हैं। तो साठ और सत्तर के जिन दशकों में कद्दावर पुरुष लेखकों का बोलबाला है, उनमें इन स्त्री-कलमों ने अपनी ठसक के साथ अपनी जगह बनाई है। लेकिन इनका बहुत सारा लेखन मध्यवर्गीय स्त्री-जीवन के बंधे-बंधाए दायरे के भीतर कुछ स्मृति-कथाएं या स्वप्न-कथाएं खोजने तक सीमित है। वे हिंदी की प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में छपने वाली लेखिकाएं हैं जिनके पाठक उन्हें पढ़ते, उन पर मुग्ध होते और आगे बढ़ जाते हैं। इस लेखन का बहुलांश आधुनिक भारतीय परिवारों के भीतर स्त्री की अस्मिता और पहचान के प्रश्न से जुड़ा है- इस ओर इशारा करता हुआ कि स्त्री ही घर की धुरी है। प्रेम और दांपत्य से जुड़ी उलझनें इस कथा-भूमि का दूसरा हिस्सा हैं, लेकिन वहां भी मोटे तौर पर या तो दिखावटी क़िस्म का विद्रोह है या फिर वह भीतर तक चलने वाली अव्यक्त उमड़न-घुमड़न है जिसे बरसों और दशकों तक संजोए नायक-नायिका जीवन की किसी शाम में बार-बार याद करते हैं और उसे नए सिरे से जीने का यत्न करते हैं।

लेकिन इस स्त्री लेखन में जितना यह मध्यवर्गीय संसार है, उतना ही उसके पार जाने की तड़प और कोशिश है। वैसे तो लगभग ये सारी लेखिकाएं नई सीमाओं के संधान की कोशिश करती नज़र आती हैं, लेकिन जिनके भीतर यह तड़प और कोशिश कुछ ज़्यादा प्रखरता से दिखाई पड़ती है, उनमें मृदुला गर्ग प्रमुख हैं। यह नज़र आता है कि वे बहुत सुचिंतित ढंग से स्त्रीत्व के नए आयामों को खोजती और अपने रचनाकर्म में व्यक्त करती हैं।

कृष्णा सोबती ऐसी विद्रोही नायिकाओं की पहली कतार लेकर आती दिखाई पड़ती हैं। ये नायिकाएं जैसे परिवार और संस्कार के बाहर जाने को तैयार हैं- बेशक, परिधि लांघने से पहले वे लौट आती हैं। लेकिन उनमें अपनी तरह का स्वतंत्रचेत्ता जीवट है जो उन्हें उल्लेखनीय बनाता है। मन्नू भंडारी सतह पर

मृदुला गर्ग के भीतर जैसे कृष्णा सोबती का साहस चला आता है और मन्नू भंडारी की संवेदना। यह एक अनायास प्रक्रिया है जो उस बौद्धिक पर्यावरण की देन भी है जो मृदुला गर्ग और उनकी समकालीन लेखिकाओं को मिला। हालांकि मृदुला गर्ग के पास भी इस दी हुई परंपरा से चुनने को बहुत कुछ था। अचानक यह ख़याल आ रहा है कि इन लेखिकाओं से उम्र और प्रसिद्धि दोनों में बड़ी शिवानी भी उस समय साहित्य के आकाश में किसी नक्षत्र की तरह चमक रही थीं और हिंदी समाज की लड़कियां संभवत: शरतचंद के बाद किसी लेखक की नायिकाओं पर निसार थीं तो वे शिवानी थीं।

भारतीय समाज की पहली कामकाजी महिलाओं की उधेड़बुन के बीच बनी कहानियां लेकर आती हैं। वे परंपरा के परिधानों में हैं, लेकिन आधुनिक मानस लेकर आई हैं। उनकी कहानियां पढ़ते हुए एक बार यह भ्रम हो सकता है कि ये तो पारंपरिक भारतीय स्त्रियों की कहानियां लग रही है, लेकिन यह समझने में देर नहीं लगती कि वह भारतीय स्त्री अब अपनी हैसियत, अपनी आज़ादी और अपने प्रेम के प्रति ज्यादा सचेत है और अपने चुनाव में स्वतंत्र भी।

मृदुला गर्ग के भीतर जैसे कृष्णा सोबती का साहस चला आता है और मन्नू भंडारी की संवेदना। यह एक अनायास प्रक्रिया है जो उस बौद्धिक पर्यावरण की देन भी है जो मृदुला गर्ग और उनकी समकालीन लेखिकाओं को मिला। हालांकि मृदुला गर्ग के पास भी इस दी हुई परंपरा से चुनने को बहुत कुछ था। अचानक यह खयाल आ रहा है कि इन लेखिकाओं से उम्र और प्रसिद्धि दोनों में बड़ी शिवानी भी उस समय साहित्य के आकाश में किसी नक्षत्र की तरह चमक रही थीं और हिंदी समाज की लड़कियां संभवतः शरतचंद के बाद किसी लेखक की नायिकाओं पर निसार थीं तो वे शिवानी थीं।

लेकिन मृदुला गर्ग को अपने लिए अलग मुहावरा चुनना था। शायद घर-परिवार से मिले माहौल ने उनको कुछ 'बिगड़ैल' नहीं तो लीक से अलग हट कर चलने वाला जरूर बना दिया था। यह अनायास नहीं है कि उनकी जिन चर्चित कहानियों का ज़िक्र होता है, उनमें 'हरी बिंदी' भी एक है। कहानी की नायिका को नीले कुर्ते पर नीली बिंदी लगानी चाहिए, लेकिन वह हरी बिंदी लगाती है। ऐसा नहीं कि इसके पीछे किसी विद्रोह की चाहत है, बस एक मनमौजीपन है जो नायिका के खुले व्यक्तित्व को उसके बंद माहौल में भी बचाए रखता है। इसलिए वह एक दिन पति के घर पर न रहने पर बढ़िया से तैयार होकर- यानी नीले कुर्ते पर हरी बिंदी लगाकर- चल देती है, चित्रकला प्रदर्शनी देखती है, एक अनजान शख्स के साथ कॉफी पीती है, उसी की टैक्सी में वापस भी लौटती है और अंत में यह 'कॉम्प्लिमेंट' सुनती है कि उस शख्स ने आज तक किसी को हरी बिंदी लगाए नहीं देखा। इस प्यारी सी कहानी के भीतर यह पूछने की हल्की सी इच्छा एक बार होती है कि क्या वाकई ऐसी लड़कियां हो सकती हैं जो किसी अनजान आदमी के साथ एक शाम कॉफी पीने को तैयार हो जाएं या ऐसा माहौल बन सकता है जिसमें एक स्निग्ध गपशप के साथ यात्रा पूरी की जा सके? लेकिन इस सवाल का जवाब ज़रूरी नहीं है, इतना भर पर्याप्त है कि यह स्त्री लेखिका के भीतर है, उनकी कल्पना में है और यह पूरी कहानी उन्होंने बहुत तल्लीनता से लिखी है।

लेकिन मृदुला गर्ग की असली सामर्थ्य उन कहानियों में दिखाई पड़ती है जहां वृत्तांत एकरैखिक नहीं हैं। ऐसी कहानियां एक से ज्यादा सिरों से खुलती हैं और एक से ज्यादा छोर निकालती हैं। जिन कहानियों में स्मृति और प्रेम की जानी-पहचानी ज़मीन है, उनमें भी कोई एक हिलता-डुलता तार ऐसा होता है जो जानी-पहचानी घटनाओं को एक विशिष्ट अनुभव में बदलता है। मसलन 'साठ साल की औरत' कहानी के किरदार पहली बार एक कॉन्फ्रेंस में मिलते हैं। एक-दूसरे के क़रीब आते हैं, लेकिन आत्मीयता अंतरंगता तक बदलते-बदलते ठिठक जाती है। दूसरी मुलाकात दोनों के बीच इक्कीस साल बाद होती है। दोनों अब साठ पार के हैं। लेकिन इतने अरसे बाद हुई मुलाकात में वे इक्कीस वर्ष दोनों के भीतर जैसे स्पंदित हो रहे हैं। जो पिछली बार छूट गया है, इस बार पूरा हो रहा है।

> यह सच है कि बरसों पहले- शायद अपनी किशोर उम्र में- 'चितकोबरा' का प्रथम पाठ करते हुए इन पंक्तियों के लेखक ने भी उसमें सनसनी पैदा करने की कोशिश जैसा कुछ देखा-समझा था। यह समझ बाद में आई कि 'चितकोबरा' दरअसल एक चुनौती भी था- कि इसे पढ़ो और आधुनिक स्त्री के मन को, आधुनिक दांपत्य के खालीपन को ठीक से, कुछ अलग ढंग से, समझो। महेश की पत्नी और दो बच्चों की मां मनु जब रिचर्ड्स से प्रेम करती है तो उपन्यास में वह सिर्फ़ एक दैहिक विचलन, एक विवाहेतर संबंध नहीं रह जाता, वह मनु के मानसिक द्वंद्व के बीच पूरी विवाह संस्था की सार्थकता पर एक प्रश्न चिह्न बन जाता है।

मृदुला गर्ग के लेखन में जो बहुपरतीयता है, उसको ठीक से समझने के लिए कम से कम उनकी तीन कहानियां जरूर पढ़नी चाहिए। एक कहानी है- 'समागम।' कहानी में कथावाचिका गंगा तट पर होने वाली आरती की प्रतीक्षा में बैठी है- बल्कि बैठना भी बाद में हो रहा है- भीड़ की धक्कामुक्की के बीच, तरह-तरह के शोर और एलान के बीच, गंगा मैया की जय के नारों के बीच उसने एक जगह बना ली है। लेकिन जितना कोलाहल बाहर है, उससे कहीं ज्यादा उसके भीतर है। उसके भीतर बचपन में ऐसी ही एक भीड़ में खो जाने की स्मृति है- किसी बूढ़े के कुचले जाने को देखने की भी स्मृति, जिससे सब इनकार कर रहे हैं- कि ऐसा कुछ नहीं घटा था। इस कोलाहल के बीच बगल में एक वृद्ध का कातर स्वर उसे सुनाई पड़ रहा है- 'मां-मां' पुकारता हुआ। यह बात बाद में खुलती है कि वह आरती के साथ अपने प्राणों का त्याग करने की आकांक्षा लिए अपने बेटे के साथ वहां आया था। लेकिन कहानी का असली मार्मिक सिरा कहीं और से जुड़ा है। कथावाचिका अपनी उस ज़िद्दी बेटी की अस्थियां प्रवाहित करने आई है जिसके बारे में उसे पता नहीं है कि उसने खुदकुशी की या उसे मारा गया क्योंकि वह पत्थर खदानों की मजदूर यूनियन की तरफ़ से कुछ ताकतवर लोगों के खिलाफ़ मुक़दमा लड़ रही थी। इस समूचे घटनाक्रम के बीच मां-बेटी, पिता-पति-पत्नी- सबके आपसी संबंधों के कई जटिल स्तर सामने आते हैं- कुछ छुपे भी रह जाते हैं, लेकिन उनका मलाल और ख़याल भी कहानी की एक उपलब्धि है।

एक अन्य कहानी 'वो दूसरी' कई पीढ़ियों और किरदारों के बीच पसरी कहानी है। बेटी को मां ने सुनाई है और वह याद कर रही है कि किस तरह विवाह के वक्त अपनी सास से उसका परिचय कराया गया था जो उसके ससुर की दूसरी पत्नी थीं- पहली पत्नी के देहांत के बाद गाने वालों के मोहल्ले से चुनी गई एक गरीब लड़की जो बच्चों को पाल सके। लेकिन वह गाती भी खूब थी और कलाकार भी शानदार थी। वह गाती हुई लड़की कब और कैसे खत्म हो गई, किस तरह उसके बनाए चित्र किसी संदूक में सड़ते रहे, इसकी बहुत मार्मिक दास्तान कहानी में है। इसी तरह 'वह मैं ही थी' एक सिहरा देने वाले मनोवैज्ञानिक अनुभव की कहानी है। पति के ट्रांसफ़र के बाद पति के साथ छोटे से शहर के सरकारी मकान में आई गर्भवती पत्नी को पता चलता है कि इस मकान में जो पलंग उसे मिला है, उस पर कुछ ही महीने पहले एक अन्य गर्भवती महिला ने अपने होने वाले बच्चे के साथ दम तोड़ दिया था। इसके बाद का जो वृत्तांत है, बहुत सघन तनाव के बीच रखा गया है और बिल्कुल निर्मम कलम से रचा गया है।

दरअसल इन सारी कहानियों का पाठ बताता है कि मृदुला गर्ग अपने सरोकारों, अपनी चिंताओं में अपने किसी भी समकालीन लेखक के मुक़ाबले कम सचेत नहीं हैं, बल्कि कुछ मायनों में कुछ ज्यादा ही हैं। उनके यहां बिल्कुल समकालीन संदर्भों की कहानियां भी मिलती हैं, 84 की सिहरा देने वाली हिंसा भी दिखती है और तात्कालिक राजनीति की छायाएं भी।

लेकिन फिर लौट कर यह कहना होगा कि मृदुला गर्ग के लेखकीय वितान में स्त्री-मुक्ति के संदर्भ अपरिहार्यतः अनुस्यूत हैं। उनकी नायिकाएं अपना दाय मांगती हैं, वे चुनाव के प्रश्न में उलझती हैं और फिर खुद को नए सिरे से पहचानती हैं।

उनके पहले ही उपन्यास 'उसके हिस्से की धूप' की नायिका मनीषा के सामने उसके मित्र जितेन और पति मधुकर के बीच अपने रिश्ते को लेकर एक दुविधा भरी स्थिति है। एक बार यह उपन्यास मन्नू भंडारी की कहानी 'यही सच है' की याद दिलाता है जिस पर 'रजनीगंधा' जैसी फिल्म बनी थी। लेकिन

'उसके हिस्से की धूप' मन्नू भंडारी की कहानी से काफी अलग होती चलती है- यहां मनीषा जैसे खुद की नए सिरे से तलाश करती है।

मृदुला गर्ग के लेखन पर लेकिन कोई बात 'चित्तकोबरा' के जिक्र के बिना पूरी नहीं हो सकती। यह उनके लेखकीय साहस और उनकी वैचारिक स्वतंत्रता के लिहाज से एक मील का पत्थर है। इस कृति में जैसे वे खुद भी एक इम्तिहान दे रही हैं और हिंदी समाज का भी एक इम्तिहान ले रही हैं। हिंदी में पहली बार शायद किसी महिला लेखक द्वारा यौन संबंधों का ऐसा खुला चित्रण हिंदीभाषी पाठक समाज ने देखा। पहली बार उसने पाया कि इस यौन संबंध में स्त्री भी सक्रिय और कल्पनाशील है। यह भारतीय सामाजिक व्यवस्था के लिए किसी कुफ्र से कम नहीं था। इस कुफ्र की सज़ा मृदुला गर्ग को भुगतनी भी पड़ी। उनके लेखन पर अश्लीलता की तोहमत लगी, उनके खिलाफ प्रदर्शन हुए, उन्हें गिरफ़्तार करने की नौबत आई, उन पर केस चला।

यह सच है कि बरसों पहले- शायद अपनी किशोर उम्र में- 'चितकोबरा' का प्रथम पाठ करते हुए इन पंक्तियों के लेखक ने भी उसमें सनसनी पैदा करने की कोशिश जैसा कुछ देखा-समझा था। यह समझ बाद में आई कि 'चितकोबरा' दरअसल एक चुनौती भी था- कि इसे पढ़ो और आधुनिक स्त्री के मन को, आधुनिक दांपत्य के खालीपन को ठीक से, कुछ अलग ढंग से, समझो। महेश की पत्नी और दो बच्चों की मां मनु जब रिचर्ड्स से प्रेम करती है तो उपन्यास में वह सिर्फ एक दैहिक विचलन, एक विवाहेतर संबंध नहीं रह जाता, वह मनु के मानसिक द्वंद्व के बीच पूरी विवाह संस्था की सार्थकता पर एक प्रश्न चिह्न बन जाता है। इस उपन्यास की भाषा में अपनी तरह की काव्यात्मकता और संक्षिप्ति है जिस पर शायद अलग से विचार किए जाने की ज़रूरत है।

यहां यह भी खयाल आता है कि मृदुला गर्ग अपने लेखन के लिए जो भी विषय चुनती या जमीन तलाशती हैं- उसमें स्त्री-पुरुष संबंधों का, दैहिकता का- एक आयाम चुपचाप अपने-आप दाखिल हो जाता है- शायद इस अनुभव की वजह से कि समाज की भित्ती जिस परिवार और विवाह नाम की संस्था पर टिकी है, उसमें स्त्री बस यौन दासी बनाकर रख दी गई है जो पति की दूसरी ज़रूरतें भी पूरी करती रहती है। बल्कि यह पूरी सभ्यता जैसे अपने अभ्यास में स्त्री को शोषण और उत्पीड़न का केंद्र बनाकर छोड़ देती है- कहीं यह एहसास लेखिका के भीतर है। यह भी कि इसे बदलना होगा और इस बदलाव में स्त्री को सबसे बड़ी भूमिका निभानी होगी।

'कठगुलाब' इस एहसास की चरम अभिव्यक्ति है। उपन्यास की अलग-अलग नायिकाएं अपने पतियों और प्रेमियों के हाथों पिटती हैं, अपने रिश्तेदारों द्वारा बलात्कृत होती हैं, वे परित्यक्ता हैं। लेकिन इन सबके बावजूद वे हार नहीं मानतीं। वे अपना जीवन अपने ढंग से बना संवार रही हैं। वे अपने समय की पुरुष प्रवंचना को पहचान रही हैं, वे उसे दुत्कार रही हैं और अंततः कहीं स्वावलंबन और

रेखा सेठी और अनामिका के साथ

कहीं समाज सेवा के ज़रिए अपना एक नया रास्ता निकाल रही हैं।

'अनित्य' में भी स्त्री-अस्मिता का यह प्रश्न कुछ अलग ढंग से उपस्थित है। उपन्यास का नायक अविजीत अपने से बहुत छोटी उम्र की लड़की से यौन संबंध बनाता है लेकिन उससे शादी करने से इनकार कर देता है- बताता हुआ कि वह पहले से शादीशुदा है। बेशक, इससे पैदा अंतर्द्वंद्व उसके मन को हमेशा मथता रहता है। मूलतः आज़ादी के संघर्ष और बाद की समझौतापरस्ती के बीच रचा गया यह दिलचस्प उपन्यास एक स्तर पर विवाह और स्त्री पुरुष संबंधों की भी चीरफाड़ करता है।

जिस उपन्यास 'मिल-जुल मन' पर मृदुला गर्ग को साहित्य अकादेमी सम्मान मिला, उसमें उनके लेखन का वैभव पूरी तरह खुलता है। यह वाकई एक 'वेटरन' लेखक का उपन्यास है- तमाम उलझनों से मुक्त, हर तरह की रोमानियत को दिलचस्पी से देखती हुई, सहज साहस के साथ चीज़ों को स्वीकार करती हुई और अतीत की घटनाओं को उलट-पलट कर पहचानती हुई मृदुला गर्ग यहां कुछ अनूठी दिखाई पड़ती हैं। यह एक आत्मकथात्मक उपन्यास है जिसमें लेखिका यह राज़ नहीं रहने देती कि गुल और मोगरा दरअसल मंजुल भगत और मृदुला गर्ग खुद हैं। लेकिन यह निजी कथा भर नहीं है। वह आज़ादी के बाद बन रहे भारत के घर परिवारों के बनने-बदलने की कहानी भी है- बहुत ठोस ढंग से और काफी ठसक के साथ लिखी गई कहानी- जिसमें भाषा का जादू, शिल्प के जटिल उतार-चढ़ाव और अतिरिक्त भावुकता को काटते-छांटते कथ्य की संवेदनशीलता पाठक को देर तक सोचने को मजबूर करती है।

मृदुला गर्ग की पहली कहानी 1971 में छपी थी, आख़िरी कहानी संभवतः एकाध साल पहले 'हंस' में आई है। उनके लेखन का सिलसिला अब भी जारी है। छह-सात उपन्यासों, सौ को छूती कहानियों, नाटकों, लेखों, स्तंभों के अलावा भी उन्होंने बहुत सारा लेखन किया है जिसके लिए 'विपुल' शब्द शायद सही है। बेशक, जब कोई लेखक इतना लिखता है तो उसकी रचनाओं में कहीं-कहीं विचलन, कहीं ढिलाई और कहीं-कहीं बिखराव भी सहज-संभाव्य है, लेकिन इसमें संदेह नहीं कि जिसे हम अस्मितावादी वैचारिकी के इस दौर में स्त्री विमर्श के रूप में पहचानने के आदी हो गए हैं, मृदुला गर्ग उसकी प्रथम पुरखिनों में एक हैं। आज स्त्री-लेखन और विचार का जो राजपथ दिखाई पड़ता है, उसकी आरंभिक पगडंडियां तैयार करने में अपने हमखयाल-हमसफ़र लेखकों के साथ मृदुला गर्ग की भी बहुत बड़ी भूमिका है। आज इस राजपथ पर इतने सारे क़दमों की आहट है, इतनी सारी कलमों की स्याही है कि देखकर हैरानी होती है। उनका होना एक विराट परंपरा का होना है जिसके साये तले हिंदी लेखन की नई पौधें बड़ी और खड़ी हो रही हैं। ●

मृदुला गर्ग की कहानियों में
स्त्री चित्रण का बदलता स्वरूप

डॉ. अलका प्रकाश

साहित्य जगत में क्यों स्त्री रचनाकार प्रतिभा संपन्न होते हुए भी वह मुकाम हासिल नहीं कर पातीं, जिसकी वे सहज हक़दार होती हैं। शक्ति केंद्र के आस-पास मौजूद मुख्यधारा में शामिल लेखक समुदाय के पास शक्ति है, सत्ता के गलियारों में पहुँच हैं, इसलिए वे सफल है। साहित्य में बात जब किसी स्त्री रचनाकार की आती है तो उसे दुहरे संघर्ष से गुज़रना पड़ता है। मृदुला गर्ग की मेधा ने पुरुष वर्चस्व को चुनौती दी है। वे हमारे समय की विलक्षण कथाकार हैं, उन्होंने विपुल मात्रा में श्रेष्ठ साहित्य की रचना की है। वर्तमान समय में जहाँ हिन्दी समाज अपने लेखकों की जयंती, षष्ठिपूर्ति और अमृत महोत्सव मना रहा है। वहीं 'स्त्री दर्पण' द्वारा मृदुला गर्ग को स्मरण किया जाना कृतघ्न हिन्दी समाज की भूल का सुधार है।

मृदुला गर्ग की पहली कहानी 'रुकावट' कमलेश्वर के संपादन में निकलने वाली पत्रिका 'सारिका' में 1972 ई. में प्रकाशित हुई थी। तब से अब तक वे अनवरत रूप से लेखन कर रही हैं। उनको मिलने वाले विविध पुरस्कार उनकी मेहनत, प्रतिभा और लगन का परिणाम हैं। एक स्त्री स्वयं को सिद्ध करने के लिए अतिरिक्त संघर्ष करती है, तथापि समाज उसकी सफलता को किसी पुरुष की कृपा दृष्टि ही समझता है। मृदुला गर्ग ने अपनी कहानियों में आधुनिक स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तिव को स्थापित करने का प्रयत्न किया है। 'डैफ़ोडिल जल रहे हैं', 'टुकड़ा-टुकड़ा आदमी', 'ग्लेशियर से', 'दुनिया का कायदा', और 'उर्फ सैम', उनके प्रमुख कहानी संग्रह हैं।

'डैफ़ोडिल जल रहे हैं' कहानी में कश्मीर घाटी के गुलमर्ग के बर्फीले एकांत में घटित दुखद और त्रासद स्थितियों, मृत्युबोध और स्त्री मन के अनदेखे बिन्दुओं का प्रतीकात्मक अंकन है। इसमें डैफ़ोडिल, आइरिस, नर्गिस आदि फूलों के प्रतीकों के माध्यम से तथा बर्फीले परिवेश के सांकेतिक चित्रण के सहारे पुरुष की स्वार्थी एवं सुखान्वेषी प्रवृत्ति तथा मन की करुणा, अकुलाहट आदि भावों का सूक्ष्म अंकन किया गया है। यह 'जिना' नामक स्त्री की कहानी है जो गुलमर्ग को अपनी मृत्यु के स्थान के रूप में चुनती है। यह व्यक्ति स्वातंत्र्य की कहानी है कि कैसे एक स्त्री क्षण की स्वतंत्रता रखती है चाहे वह मृत्यु के समय को चुनना ही क्यों न हो।

योगेश गुप्त ने इस संग्रह की भूमिका में लिखा है- 'अस्तित्व के संकट को 'डैफ़ोडिल जल रहे हैं' में एक और आयाम दिया गया है, मृत्यु की आकस्मिकता को चुनौती देकर अर्थात मृत्यु के समय को खुद तय करके। साथ ही इस कहानी में लेखिका ने मृत्यु की भयावहता को भी चुनौती दी है, बल्कि यह कहना असंगत न होगा कि मृत्यु में जीवन के सौन्दर्य को देखा है। और यह सब उसी धीमी आवाज में कहा गया है।'

मृदुला गर्ग की 'मेरा' एक ऐसी स्त्री की सशक्त कहानी है जो अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को स्थापित करती है। यह कहानी आज के मध्यमवर्गीय परिवार के नौकरी-पेशा स्त्री पुरुष के बीच बच्चे के जन्म की समस्या को लेकर उत्पन्न तनाव का जीवन-चित्र है। कहानी का नायक असिस्टेंट इंजीनियर है। उसे अपनी पत्नी का अनचाहा गर्भ एक मानसिक बोझ और अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति में बाधक लगता है। परिस्थितियों के दबाव में आकर उसकी माँ भी गर्भपात करवाने की सलाह देती हैं। पति की मजबूरी के कारण अस्पताल पहुँचने पर मीता को लगता है कि यह उसका अपना मामला है। अपनी कोख पर उसे पूरा हक है। वह अपने बच्चे को जन्म देगी या नहीं उसका नितान्त निजी फैसला है। उसके अन्दर का मातृत्व अन्त में विजयी होता है। अपने पति तथा सासू माँ के अमानवीय व्यवहार के बावजूद वह अपने खुद के निर्णय पर टिकी रहती है। इस तरह 'मेरा' एक स्त्री के खोए हुए निजत्व की उपलब्धि की कहानी है।

मृदुला गर्ग की सर्वाधिक लोकप्रिय कहानी 'हरी-बिन्दी' की नायिका, पति राजन के दिल्ली जाने पर स्वयं को इतना स्वतंत्र महसूस करती है कि आज का दिन यूँ ही नहीं जाने देती। उस दिन वह सब कुछ करती है, जिसे पति की उपस्थिति में नहीं कर पाती जैसे खाना न बनाना, आर्ट गैलरी में अकेले हँसना, गर्म टिकिया और आइसक्रीम एक साथ खाना और एक अजनबी विदेशी के साथ कहवी हाउस और टैक्सी में बैठना, बतियाना आदि। वह पति से अलग स्वतंत्र व्यक्तिव जी रही है- "वह जीवन में पहली बार ऐसे इंसान के साथ बैठती है जो यह नहीं जानना चाहता कि उसके पति है या नहीं और है तो क्या काम करते है।"

दाम्पत्य जीवन से मुक्ति के लिए छटपटाती यंत्र स्वरूप जिस युवती का मानसिक चित्र मृदुला गर्ग ने खींचा है, वह भारतीय परिवेश में नए मोड़ का सूचक हैं। इस कहानी में चित्रित स्त्री का दायरा तब बड़े घरानों तक ही सीमित है, जहाँ पश्चिम की गन्ध है या नकल है... उसे अपने पति की आदतें अखरती है। वह नयी आदतों की खोज में है। वह पराए पुरुष की संगत में अपने को स्वतंत्र अनुभव करती है। वह अतीत के बजाय आगत में रहना चाहती है, लेकिन वह अतीत से छुटकारा नहीं पा सकती। पिक्चर देखने के बाद वह घर लौटने को विवश है।

'हरी बिन्दी' की नायिका, सती अथवा वेश्या न होकर यंत्र बनने से इंकार करने वाली स्त्री के व्यक्तित्व का विस्तार है, जिसने अपनी आत्मीयता, आधुनिकता एवं खुलेपन के कारण जीवन को एक दिन के लिए ही सही, जी लिया है। इस नए संबंध में कथा नायिका पर-पुरुष के साथ पिक्चर देखने के दौरान उसके साथ मित्र की तरह ठहाके लगा-लगा कर हँसती है। मौसम की बात लेकर वे अपने सांकेतिक दर्शन-चिंतन को व्यक्त करते हैं। दोनों अपने-अपने खयालों में खोए कहवी हाउस में काफी पीते हैं। दोनों पात्र किशोर हरकतें करते हैं 'आप क्या सोच रही हैं, जानने के लिए पैनी को खर्च करने को तैयार हूँ।'

'दीजिए' उसने हँस कर कहा। उसने निहायत संजीदगी के साथ जेब में हाथ डाला और एक पैनी आग बढ़ा दी। बतलाना सच-सच होगा 'मैं सोच रही थी यदि समुद्र में कूद पड़ूँ तो कितनी दूर तक अकेली तैर सकूंगी। और आप?क्या सोच रहे थे?पर पैनी नहीं दूँगी।' यह पैनी उसे किसी प्रिय के आत्मीय उपहार जैसी लगती है। पुरुष का आशिकाना बातें न करना भी नायिका को हर्ष के अतिरेक से भर देता है।

पुरुष द्वारा उसके घर, पति, व्यवसाय के विषय में न पूछना भी उसके व्यक्तिव को बिखरने से बचा देता है।

वह उसकी उपस्थिति को पूरा महत्व देता है। 'आप बहुत घूमे है?'

'बहुत'

'सबसे अच्छी जगह कौन सी लगी?'

'जब जहाँ हुआ।'

वह हिचकिचाहट के साथ मुस्कुराया... पता नहीं वह समझे या न समझे। पर वह सहमति स्वरूप सिर हिलाकर मुस्कुरा दी।

कॉफी हाउस का बिल देने के लिए पुरुष जिद नहीं करता। इस प्रकार वह पितृसत्तात्मक सोच का व्यक्ति सिद्ध नहीं होता। वह नायिका के हरी बिन्दी की प्रशंसा करता है।

'हरी बिन्दी' शीर्षक ही नायिका के दुहरे विद्रोह की सूचना देता है। परंपरा के अनुसार लाल रंग की बिन्दी लगाई जाती है। फैशन के अनुसार कपड़ों के रंग की बिन्दी लगाते हैं। परंतु यह नायिका नीले-कुर्ते पाजामें के साथ हरी बिन्दी लगाती है। पति के दिल्ली जाने के बाद उसका विद्रोहिणी रूप कहीं मुखर हो उठता है।

घड़ी लगाकर सोना, साढ़े आठ बजे उठना, धुंध में खुलापन महसूस करना। नकली बड़ी-बड़ी बालियाँ पहनना, अकेले घूमना पिक्चर देखना, रेस्टोरेंट जाना, हँसना, पर पुरुष के साथ को बेझिझक स्वीकार करना इसके सशक्त उदाहरण है।

इस कथा की नायिका जो कुछ भी करती है, जानती है यह सब कुछ एक बंद दराज के समान रह जायेगा-किसी को इसकी जानकारी न होगी और इसका कोई 'पीछा' नहीं होगा। इस प्रकार यह कहानी स्त्री चेतना के पारंपारिक रूप का अतिक्रमण करती है। अब कुछ भी दंडनीय, निंदनीय नहीं है। सभी पात्र मानवीय संवेदना से स्वीकार कर लिया गया है। अपनी इस अत्यंत मौलिक कहानी की समीक्षा करते हुए मृदुला गर्ग कहती है कि भेड़ चाल में सुरक्षा है। समाज अस्मिता को मार डालता है, "हमेशा मैं महसूस करती रही हूँ कि व्यक्ति को यंत्र में तब्दील होने से कुछ रोक सकता है तो वह है उसका खुद से साक्षात्कार। अधिकतर लोग अपने साथ अकेले होने से डरते हैं। अकेले रहने पर आदमी अपने लिए खुद सोचने पर मजबूर हो जाता है और कायर या जड़ व्यक्ति सोचना नहीं चाहता, बनी-बनाई नीतियों का पालन करना चाहता है। भेड़चाल में सुरक्षा है वह उसी को खोजता है। मैं समझती हूँ कि जो आदमी अपने साथ कुछ क्षण अकेले गुजार सकता है, वही अपनी अस्मिता को बनाए रख सकता है। और वही दूसरों के तई ईमानदार बना रह सकता है।" अतः हरी बिन्दी सामाजिक रिश्तों के नकार, अपने साथ कुछ क्षण गुजार पाने के ललक की कहानी है।

अपनी कहानी 'एक और विवाह' में मृदुला गर्ग ने आधुनिक नारी के स्वतंत्र व्यक्तित्व को स्थापित करने का यत्न किया है। वह विवाह के संबंध में नया दृष्टि कोण अपनाती है और व्यवस्थित विवाह में अविश्वास रखती है।

"मैं व्यवस्थित विवाह में विश्वास नहीं रखती। वह विवाह नहीं, जबरदस्ती किसी का पल्लू पकड़ लेना होता है, दो कारणों से ऐसा करने की आवश्कता पड़ सकती है, आर्थिक अवलम्बन की खोज या शारीरिक भूख।"

"हाँ एक दिन उसने यह जरूर कहा था, "जीवन में हमें सेक्स से ज्यादा रोमांस की खोज होती है और व्यवस्थित विवाह का अर्थ है रोमांस की तिलांजलि।"

"मुझे तो बच्चे चाहिए। बिना विवाह के मिल जाए तो बहुत खूब, वर्ना विवाह करना ही पड़ेगा।" अर्थात आज की स्त्री वैवाहिक जीवन के संत्रास से ऊब कर उससे मुक्ति की तलाश में हैं।

मृदुला गर्ग की 'अवकाश' कहानी में पत्नी, पति से शारिरिक संतुष्टि, धन और भौतिक वस्तुएं पाती है परंतु सिर्फ मन की तुष्टि नहीं पाती। परंतु वह मन की तुष्टि के अभाव में जीना भी अपने साथ अन्याय समझती है और इस अन्याय को सहने से इंकार कर अन्य व्यक्ति से मन की तुष्टि होने में कोई बुराई महसूस नहीं करती। "यह कौन सा तर्क है जो टिकाऊ है, वही निष्पाप है, सुंदर है, महत्वपूर्ण है?टिके चाहे नहीं, वह उसे पूरी तरह पाना चाहती है। वह पुलक, अकारण हँसी, गुब्बारे के समान फूलता फैलता हृदय, ज्वाला का प्रपात, नगाड़े की धमक, भाप सा मुक्त अस्तित्व, मूक चिंतन...।"

मृदुला गर्ग की कहानी 'खरीददार' की नायिका एक कामकाजी साहसी नारी है जो पुरूषों की नारी के प्रति हीन भावना, व्यंग, अभिमान भरा व्यवहार के प्रति विद्रोह करती है। उसके कुछ कहने पर पुरुष 'औरत क्या जाने यह जंजाल' कह कर बात को उड़ा नहीं सकेंगें। उसके पास सब कुछ है और जो नहीं है, कभी भी ले सकती है; पुरुष को खरीद भी सकती है। इस प्रकार मृदुला गर्ग के स्त्री पात्र पुरुष को चुनौती देते हुए प्रतीत होते हैं।

उनके सभी स्त्री पात्र आधुनिक हैं, वे पति से अपना अधिकार मानव रूप में चाहते हैं। ऐसा न होने पर या तो वे मौन जीवन व्यतीत करते है या पति से

विमुख होकर जीवन जीते हैं। 'तुक' की नायिका पति को दिल से चाहती है, मगर पति का उसके प्रति उपभोगवादी दृष्टिकोण है, वह सब कुछ समझती है और स्पष्ट ढंग से कहती है, "मैं उन बेवकूफ औरतों में से हूँ जो अपने पति को प्यार करती हैं या यह कहना चाहिए कि मैं ही एक बेवकूफ औरत हूँ ....।"

'अवकाश' कहानी टूटते पति-पत्नी सम्बन्धों की कहानी है। महेश की पत्नी दो बच्चों की माँ बनने के बाद दूसरे युवक समीर से प्रेम करती है। प्रेम करने से मामला खत्म नहीं होता। वह महेश से तलाक माँगती है। 'रुकावट' कहानी प्रेम और यौन दृष्टिकोण में आए परिवर्तन को व्यक्त करने वाली कहानी है। यह उनकी पहली कहानी है जो अपने कथ्य और शिल्प में नवीन होने के कारण प्रकाशित होते हुए भी चर्चित हो गयी थी। कहानी की सीता शादी-शुदा है लेकिन वह लुक छिप कर होटलों में मदन से मिलती है। उनमें यौन संबंध होता हैं। 'खाली' कहानी की काम-काजी स्त्री माँ बनना ही नहीं चाहती क्योंकि वह उन सब समस्याओं को मोल लेना नहीं चाहती। इन कहानियों की नायिकाएँ स्वतंत्र जीवन जीने की इच्छा रखती है।

'कितनी कैदें' कहानी में मृदुला गर्ग ने दिखाया है कि आज भी पुरुष अपनी सामंतवादी सोच से मुक्त नहीं हो पाया है जबकि नारी पुरानी ग्रंथियों से मुक्त होती जा रही है। 'कितनी कैदें' की नायिका मीना नशीले पदार्थो के सेवन और बलात्कार की शिकार होने से अपने वैवाहिक जीवन में सहज नहीं हो पाती है। लेकिन जब वह अपने पति के साथ लिफ्ट में कोइना बाँध के नीचे चली जाती है और उन्हें उस दहशत भरे परिवेश में काफी समय तक लिफ्ट के अन्दर रहना पड़ता है। उस समय मीना की सहज वासनाएँ जग जाती हैं और वह पति मनोज को अपने बीते जीवन की बातें सुनाती है। शायद उसके दिमाग में लिफ्ट की भयग्रस्त परिस्थिति के कारण एक नया धक्का लगता है जिससे पुराने धक्के से उत्पन्न ग्रंथियों से वह इस तरह से छूटती है जैसे किसी कैद से मुक्त हो रही हो। लेकिन जब वे दोनों लिफ्ट से बचकर बाहर आते हैं तब उसके पति के मन में यही पेशोपेश होने लगता है कि अब इस औरत के साथ वह बाकी जिन्दगी कैसे गुजारेगा।

मृदुला गर्ग की 'चकरबिन्नी' कहानी विनीता की कहानी है जिसने आदर्श पत्नी और आदर्श माँ बनने की जीवन की अपनी भूमिकाएं सजोकर रखीं थी। विनीता की माँ डाक्टर थीं, अपनी माँ के व्यस्त जीवन से बेटी ऊब गई थी इसलिए विनीता ने चाहा कि शादी के बाद पति की सेवा करके परिवार चलाएगी। लेकिन बाद में जब वह दो बच्चों की माँ बनी, बच्चे बड़े हुए तो नौकरी की आवश्कता महसूस करने लगी और अपने पापा के क्लिनिक में वह रिसेप्शनिस्ट का काम करने का निश्चय करती है। मृदुला गर्ग की 'शहर के नाम' कहानी में रेस का अरबी घोड़ा और कहानी का 'मैं' मुक्ति भावना का प्रतीक है। लेकिन बाद में वह महसूस करती है कि घोड़े के पैर में नाल ठुकी हुई है जबकि उसके अपने पैरों में वह नहीं है। इसलिए वह अपने ही माँ-बाप से संघर्ष करती हुई रेस का घोड़ा बनना छोड़ देती है और अपने ही शहर में अनाम होकर जीना चाहती है। वह कहती है-"और जो हो मैं याद रखूँगी कि अपना रास्ता चुन सकती हूँ। रेस के ट्रेक पर दौड़ना लाज़िमी नहीं बना सकता कोई मेरे लिए? मैं आजाद रखूँगी खुद को उन लोगों के साथ रहने के लिए जो रेस में शरीक होने लायक नहीं है।"

मृदुला गर्ग साहित्य को महिला लेखन एवं पुरुष लेखन के अलग-अलग खानों में बाँटने के खिलाफ हैं। उनका मानना है कि लेखिकाओं की अलग श्रेणी बनाना उन्हें पुरूषों से निम्न सिद्ध करने का प्रयास है।

मृदुला गर्ग की कहानियों का यदि गहराई से अध्ययन किया जाए तो यह स्पष्ट है कि जिस शिद्दत से उन्होंने स्त्री के अंतरसंघर्ष को, उसकी पीड़ा को वाणी दी है वह कोई महिला कहानीकार ही कर सकती है। नवें दशक की कहानियों में स्त्री मनोविज्ञान का ऐसा सूक्ष्म अंकन अन्य कहीं दृष्टव्य नहीं है। पुरुष कथाकारों की कहानियों में स्त्री के जीवन-चित्र इतने सशक्त रूप में उपलब्ध नही। मृदुला गर्ग ने अपनी कहानियों में स्त्री की नयी जीवन दृष्टि को अभिव्यक्ति दी है।●

रोशनी जो समृद्ध करती है

रीता दास राम
(कवयित्री/लेखिका)

हिंदी साहित्य की प्रतिष्ठित कथाकार मृदुला गर्ग का 1996 में ज्ञानपीठ से आया 'कठगुलाब' एक उत्कृष्ट उपन्यास है। इसकी लोकप्रियता ही है जो 2020 में इस बहुचर्चित उपन्यास का ग्यारवाँ संस्करण प्रकाशित हुआ हैं। स्त्री चेतना की भीतरी तहों पर प्रकाश डालता, स्त्री विमर्श के कई पहलुओं को विस्तार देता यह उपन्यास संज्ञान ही नहीं लेता बल्कि चौंकाता भी है। मराठी, मलयालम और अंग्रेजी में अनूदित इस उत्कृष्ट कृति के लिए मृदुला जी को 2004 के व्यास सम्मान से सम्मानित किया जा चुका है। साहित्य अकादमी सम्मान से पुरस्कृत मृदुला जी की उपन्यास, कहानी संग्रह, नाटक, निबंध आदि विधाओं पर तीस से भी ज्यादा पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी है जिसमें 'कठगुलाब' औरतों की जिंदगियों की पड़ताल दर्ज करता एक विशिष्ट उपन्यास है।

'कठगुलाब' समाज पर डाली गई एक समसामयिक दृष्टि है जो सामाजिकता और वैयक्तिकता से परे की दुनिया, की ओर इशारा ही नहीं करती बल्कि स्त्री-पुरुष के जटिल और आकर्षक संबंधों को परखती, उधेड़ती तार-तार वैचारिक बुनावट को स्थान देती है। इन मुद्दों पर सर्वथा अनुकूल प्रतिकूल दृष्टि जाती तो है पर स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन का आगाज़ देखने की इच्छा कुछ-कुछ दबी की दबी रह जाती है। बावजूद इसके स्त्रियाँ हाशिए पर तब तक नहीं आ सकती जबतक फैसले का अधिकार रखती है। पितृसत्तात्मक समाज के दोहरे मानदंडों के बाद भी स्त्री स्वतंत्र है अपनी रणनीति के लिए जिससे जागरूकता की आशा और सोच का धीरज बँधता है। लेखिका स्त्री चेतना की चुनौतियों के अलग-अलग मुद्दों पर अपनी बात रखने के साथ पुरुष मानसिकता की दलीलों के अपने पक्ष भी निष्पक्ष रखती है और निजत्व को भी स्थान देती है। वे कहती है, "हर इंसान के पास छिपाने को एक अपना निजत्व होता है, जिसे छिपाए रखने का उसे पूरा अधिकार होता है।"(पृष्ठ 52) इसके साथ ही समाज में रिश्ते गाँठे जाते रहे हैं, यह भी एक सच है।

'कठगुलाब' आह्लादित एहसास के इंतजार की स्वप्निली तलाश है जिसे घर में रोपने की चाह लिए उपन्यास की नायिका स्मिता ताजिंदगी हर उस अवसर को जीती है जो उसके सामने से गुजरता जाता है और वह खुली आँखों से उसे देखती रहती है। कथानक स्मिता के इर्द-गिर्द घूमता है चूँकि वह केन्द्रीय मुख्य पात्र है। सभी पात्रों की जुबानी आपबीती सुनते पाठक स्मिता, मारियान, नर्मदा, असीमा के बाद पुरुष पात्र विपिन की कहानी पर उपन्यास का अंत पाते हैं। मृदुला जी नारी मन के साथ पुरुष मन को भी सिद्ध हस्त लेखनी से बारीक धार देती है। मानसिक चीर-फाड़, दर्द और पूरी दस्तानों के कच्चे-चिट्ठे के बाद भी उपन्यास दुख का रोना नहीं, तटस्थ कथ्य के साथ चलती सीधी तनी लेखनी पाठक महसूस कर सकते है। स्मिता भारत के कस्बे में पैदा हुई अमेरिका के बॉस्टन जाती है और फिर भारत वापस लौटती हुई गोधड़ गाँव पहुँचती है। स्मिता से जुड़ते रिश्तों द्वारा देश, समाज, संस्कृति, परिवेश, भाषा, बोलचालके रुचिकर बदलाव को देखना सरस लगता है। जिसमें प्रकृति, पेड़, पौधे, फूल, पत्ती, डाली, प्रजातियाँ उनसे जुड़ी विभिन्न जानकारियाँ लुभाती लाभान्वित करती है। पाठक प्रकोष्ठ दर प्रकोष्ठ पात्रों की जिंदगियों में प्रवेश पाते, स्त्रियों के व्यक्तिगत मुद्दों, समस्याओं पर विचार-विमर्श के रास्ते तलाशते, उपन्यास में सफर

सौतेले पिता के साथ को मजबूर, अपने पिता के लिए माँ के मुख से 'कंगला' शब्द सुनना जैसे अपनी नियति को झेलना ही था, झेलती मारियान बड़ी होती है और माँ के अंतिम समय में माँ को खुद के लिए 'कंगले' का एहसास होते देखती है। प्रश्न उठता है कि क्या वाकई समय हिसाब रखता है। जिस दूसरे आदमी की संपत्ति (जो उसके मरने के बाद माँ को मिलने वाली थी) को माँ अपना मान बैठी थी, उस आदमी के पहले ही वह खुद कैंसर से पीड़ित हो मरने को प्रस्तुत है।

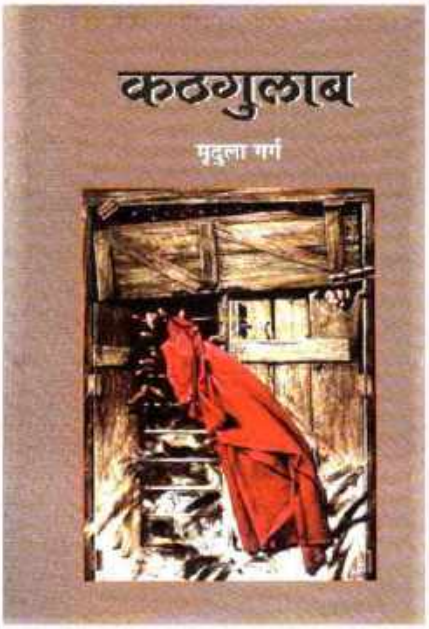

करते है जो कई स्तरों पर स्त्री-पुरुष के आपसी संबंधों के ताने-बाने को छूता तह तक पहुँचाता है। नारी की संचित पीड़ा के लिए बहुत सुंदर तर्क, उक्ति है, "सारा दुख डोने का बोझ स्त्री ने अपने सिर ले लिया तो पुरुष आपत्ति क्यों करता?वह क्षणिक सुख की खोज और प्राप्ति में लीन हो गया। पर शक्ति तो फिर भी स्त्री के हाथ लगी न?यह संवेदनशीलता, जिसे तुम नारी सुलभ गुण बताती हो, उसी दुख-शक्ति की देन है।" (पृष्ठ 213) अलगाव, बिछोह, तमाम गाली-गलौज के बाद भी शालीनता और उत्कृष्टता के स्तरीय एहसास को उपन्यास में ना खोना, अद्भुत एहसास है। अमेरिका हो या इंडिया झोंपड़पट्टी हो या गाँव का वर्णन परिवेश की अहमियत और वैचारिक ओजस्वी दृष्टि की तेजस्विता के दर्शन होते है। अलग-अलग समाज और विभिन्न समुदायों से जुड़ी बातें, स्थान अनुसार स्टाइल, बोलचाल के तरीके, भाषाओं की विविधता व वैयक्तिक मानसिकता की यथा स्थान योग्य अभिव्यक्ति उपन्यास को सशक्त बनाती है। बदलते हुए माहौल को पूरी जागरूकता के साथ रेशा-रेशा खोलते हुए बाँधना समाँ, जैसे बुनना मन मस्तिष्क और सुलझाव लिए विचारों का जाल, जिसमें आसानी से रोशनी, उदासी, शब्द-भेद, वीभत्सता, वेदना, मज़ा, तृप्ति को प्राप्त किया जा सकता है हाँ बिलकुल स्वादानुसार।

विचारों में उग आने वाला कठगुलाब अतीत में घूमता, बचपन की हकीकत जैसे एक सपना मासूमियत बचाए हुए जीना चाहता है जिसे वर्तमान की धूप ने भी मरने नहीं दिया। "मन तो कठगुलाब की तरह है सदाबहार। पर कितना नष्टप्राय ! सूखता नहीं, बुढ़ाता नहीं पर जरा हाथ लगने पर टूटकर बिखर जाने को तैयार रहता है।" (पृष्ठ 235) लेखिका कठगुलाब को जिंदगी से जोड़ती ही नहीं उसके बीज को बोने की असंख्य कोशिश करती है।माता-पिता के बाद बहन नमिता के सहारे पली बढ़ी स्मिता हरियाली, फूल, पौधे, प्रकृति से बतियाती

कहानी को पिरोती है। होम साइंस में एम.ए. करने अकेले बड़ौदा जाना बिन माँ-बाप की बेटी के लिए मुश्किल था, पर असंभव तो हो नहीं सकता फिर वो बड़ौदा हो या कानपुर। बलात्कार को भोगती, बहन से चोट खाती, उम्मीद और सहारे से किनारा कर, अमेरिका पहुँचती स्मिता अपराध बोध की चर्चा पर माहौल को व्यंग्य पूर्ण दिलचस्प बनाती है। अमेरिकी मानसिकता, सहूलियतें, समाज, कानून, कार्य-व्यापार, सोच, सुविधाएं, रहन-सहन और प्रकृति वो सारी बातें जो सोची जानी चाहिए तरीके से उपन्यास का हिस्सा बनती रोचक लगती है। जिसे अलग स्वतंत्र नजरिया कहा जा सकता है। मनोविश्लेषक की जरूरत स्मिता को डॉ. जारविस तक पहुँचाती है और दोनों के संबंध सहानुभूति, दया, प्यार, अपनापन, मजाक, मस्ती से होते हुए शादी, झगड़े और तलाक तक पहुँचते हैं जो एक खुरदुरी सच्चाई है। जब जब रिश्ते में रूखापन आता है कटगुलाब याद आता है। दो व्यक्तियों के स्वभाव का ना मिलना या एक दूसरे को बर्दाश्त ना कर पाना, दोनों को ऐसे हद तक पहुँचा देता है कि परिस्थितियाँ बदलती चली जाती है और इंसान गुनाह करने के लिए आमादा हो जाता है, वही इंसान जो सहिष्णुता का पाठ पढ़ाने से नहीं चुकता था। अमेरिकी रिलीफ फॉर एब्यूज्ड विमेन 'रॉ' संस्था तमाम प्रताड़ित महिलाओं की शरणस्थली, स्मिता की भी मददगार बनती है। जहाँ कई आई हुई औरतों में पहली लांछित, प्रताड़ित, बलात्कृत, पिटी हुई; दूसरी टूटकर बिखरी मदद मांगने नहीं बल्कि संवेदना और करुणा के साथ मदद देकर खुद संबल पाती हुई; तीसरी दंभ के साथ पुरुषों का शासन अस्वीकार करती, औरतें हैं। इन औरतों से परिचय पाती स्मिता मारियान से मिलती है। तीन तरह की एब्यूज्ड वुमेन यदि हर समाज का हिस्सा है तो पुरुषवर्ग आखिर कटघरे में कब तक खड़ा रहेगा। क्या स्त्री वर्ग खुद को हालात की गुलामसमझे! या मजबूर हो जाए विनाश काले विपरीत बुद्धि को तय समझने में। काश, चेतना की अंजान शक्तियाँ संज्ञान ले, कुछ और सभ्य हो जाए हम वहशी हद को तजने के पहले। क्यों नहीं, प्रकृति भी क्रूरता के पहले इंसानों का बेहोश होना तय कर दें।

स्मिता की कथा आगे मारियान को जोड़ती हुई, मारियान को अपनी आपबीती सविस्तार कहने का अवसर तो देती ही है, साथ ही अमेरिकी समाज में पनपती मानव जाति, उनके जीने के तरीकों, व्यवस्थाओं से रूबरू भी कराती है। सौतेले पिता के साथ को मजबूर, अपने पिता के लिए माँ के मुख से 'कंगला' शब्द सुनना जैसे अपनी नियति को झेलना ही था, झेलती मारियान बड़ी होती है और माँ के अंतिम समय में माँ को खुद के लिए 'कंगले' का एहसास होते देखती है। प्रश्न उठता है कि क्या वाकई समय हिसाब रखता है। जिस दूसरे आदमी की संपत्ति (जो उसके मरने के बाद माँ को मिलने वाली थी) को माँ अपना मान बैठी थी, उस आदमी के पहले ही वह खुद कैंसर से पीड़ित हो मरने को प्रस्तुत है। इसमें इसका, उसका, किसी का हाथ तो नहीं 'हाँ' इसे किस्मत कह सकते है। रूपवान माँ की बीमारी में धीरे-धीरे माँ को कुरूप होते देखते मारियान का अपनी सुंदरता की ओर ध्यान जाता है। यहाँ सुंदर माँ की औसत रूपसी बेटी की मानसिक दुखद स्थिति नज़र आती है जो माँ की सुंदरता से खुद की तुलना कर कष्ट भोगती है। लेखक पति की हर जरूरत पूरी करते हुए भी मारियान, पहले पति से धोखा खाती है फिर खुद चार उपन्यास लिख लेखिका बनती है। दर्द हर इंसान को कसता है। एक पकी पकाई जिंदगी के भीतर पड़ाव पर घूम कर देखना अतीत को, जैसे बड़े गर्व की बात है कि हमने यह सब भोगा, पाया, जीया पूर्ण/अपूर्ण हुए, और आज जिंदादिली से पलटकर देखने की हिम्मत कर रहे हैं कि क्या कुछ बचा रह गया है लील लेने के लिए, या पलट कर चले जाने के लिए दूसरी ओर कि 'देयर आर अदर ऑप्शन टू'। मारियान पति के उपन्यास में खुद के विचारों की महक को पाठकों और आलोचकों द्वारा पहचाने जाने और खुद का लिखा हुआ साबित होने का सपना पालती है जो धीरे-धीरे अंधेरे दर्द भरे खोह से उसे बाहर निकालता है जबकि इसे वह अपने जीवन की हार समझ बैठी थी। जनरल के बहाने रूथ, एलेना, सूजन, रॉकजॉन, ऐना के जीवन से जुड़ी कहानियों पर बना उपन्यास 'वुमेन ऑफ द अर्थ' को मारियान साझी उपलब्धि मानती है जिसे उसके पति ने बातों में फंसा कर उससे हथिया ली थी। जिसका कोई सबूत नहीं होने के वजह से मारियान अपनी मेहनत पर अपना नाम नहीं दे पाती, ना ही उपन्यास में अपनी सहभागिता ही दर्शा पाती है। पूरी मासूमियत से रिश्ते की अगुआई करने के बाद भी मारियान चोटिल एहसास भोगती है, यह हर रिश्तों की सच्चाई है।

गूगल से साभार

स्त्री के भीषण दर्द, रोष, गुबार, अंतर्दृष्टि, वैचारिकता पर लेखिका कथ्य को केंद्रित करती है जैसे रेशा-रेशा पात्रों के मानसिक वेदना के भीतर देखती, खोजती, आस्थाएं दर्ज करती, पीड़ा की शुरुआत, गतिशीलता, विकास, अवरोध और अंत को आत्मसात करती पाठकों के समक्ष रखती है। बहस, चर्चा, और वार्तालाप के अवसर मुहैया कराती स्त्री-दर-स्त्री जीवन में इंसानी व्यावहारिकता की पड़ताल कर स्त्री-पुरुष संबंधों की गाँठ को परखने की महीन कोशिश दिखाई पड़ती है। यह उलझती-सुलझती सघन बुनावट की खोह में उतरने सा जरूर है फिर भी दृष्टि डालने का संतोष पाठक हासिल करता है। नारी के प्रेमी, पति, माता-पिता, संबंधी के साथ शादी, बलात्कार, प्यार, जरूरत, उपभोग की वस्तु, सहनशीलता, तिरस्कृत, अपमान, संवेदना पर यह उपन्यास एक परिष्कृत टिप्पणी है जिससे नारी मन के तहों का पता लगता है। गर्भपात, बच्चा, बच्चे का सुख, बच्चे की जरूरत आदि कई मुद्दे है जो स्त्री पुरुष को जोड़ते हैं तो रिश्तों के टूटने का कारण भी यही होते हैं। तलाक या समझौते पर टिके रिश्ते अपना कच्चा-चिट्ठा बहुत बाद में बतलाते है तब तक जिंदगी गुजर जाती है। असीमा द्वारा सुंदर प्रश्न मृदुला जी उठाती है, 'अगर औरत मर्द के बिना, स्पर्म दान द्वारा, बच्चा पैदा कर सके तो क्या औरत-मर्द के बीच का आकर्षण समाप्त हो जाएगा?' (पृष्ठ 190) इतना ही नहीं, देश के नौकरशाह, राजनीतिज्ञ, उच्च वर्गीय प्रतिनिधियों को कटघरे में रख वे बाल मजदूरी, अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा, उच्च शिक्षा पर दी जाने वाली छूट पर विलक्षण बहस की आशा रखती है।

निम्नवर्गीय समुदाय का प्रतिनिधित्व करती नर्मदा पात्र द्वारा झोंपड़पट्टी में स्थित स्त्रियों के जीवन की समस्याओं, यातनाओं, विडंबनाओं का सादृश्य वर्णन किया गया है। गरीबी में होते बच्चे, जिनकी जिम्मेदारी कोई नहीं लेना चाहता। जिन्हें भविष्य के सहारे के नाम पर बस पाल भर लिया जाता है। लाचारी, बेबसी, फटेहाली नारकीय जीवन से तुलना करते हैं

फिर भी नरक किसी का देखा हुआ नहीं है। गरीबी, पेट भरना जहाँ पहली मजबूरी है। जिंदा रहने के लिए यही मजबूरी की हद, चालाकी, झूठ, साजिश, जालसाजी यह सब मुफ्त में सीखाती है। बावजूद इसके दर्जिन बीबी जैसे इंसानो के मिलने के मौके भी पेश आते है तब जिंदगी के चंद पन्नों की इबारतें बदलते देर नहीं लगती। गरीबी जरूरत की मारी ही सही पर इंसानियत अपनी नियति खोज कर रहती है। इसी दुनिया में सबका गुजारा चलता है। अत्याचार फिर भी लद-फद कर जमें रहना सीखाता है, मानसिक या शारीरिक जघन्यता के नए फ्लेवर की ईजाद के साथ।

नर्मदा की आपबीती के बहाने स्मिता के बलात्कार के आरोपी जीजा के लकवा ग्रस्त नारकीय जीवन का क्रमबद्ध विवरण मिलता है जो बलात्कार से उभरे प्रतीक्षित दर्द पर फाहे का काम करता है। जिसकी तुलना संसार में पाप की सजा भुगत कर, दुर्योधन के स्वर्ग जाने को लेकर जस्टीफ़ाय करने जैसा प्रतीत होता है। यहाँ आरोपी के लिए दया भावना चुभती है फिर भी नर्मदा द्वारा सेवा भाव एक हकीकत है। कहा जा सकता है 'अपनी-अपनी जमीन का अपना-अपना सच'। कमजोर अगर औरत है तो उसे अपनी कमजोरी का तोड़ निकालना होगा। वरना हारकर गुलामी और समझौते वाली जिंदगियों के उदाहरण भरे पड़े है। नर्मदा ना हारी, ना भागी, किस्मत जिसे कहते हैं छक कर जीती है। गरीब है हाड़ तोड़ना जानती है। मेहनत से जी नहीं चुराती और मेहनत की ही खाती है। नमिता का घर संभालती है। खुद के ना सही नमिता के बच्चों को पालती, नमिता के पति की बीमारी में मरणोपर्यंत सेवा करती है। दर्जिन बीवी के घर में उसके लायक जगह की आशा उसके जद्दोजहद का उपहार लगता है। स्मिता के जीजा के अंत को सुनाने के लिए जैसे नर्मदा का किस्सा जरूरी था, इस बहाने भारत की गरीबी में घुटती जिंदगियाँ भी सचित्र सामने आती है। यहाँ गरीब औरतों की जिंदगियों के उदाहरण भरे पड़े हैं जिनकी अवस्था सुधारने के बदले 'यहाँ इन बस्तियों में तो ऐसा ही होता है' का तमगा मिलता है। आखिर इन दुखियारियों के भाग्य में क्या वाकई दुख लिखा हुआ है? या यह हमारे सड़े-गले ढकोसलों से अटे-पड़े समाज में पैदा होने का दुख भोग रही है। नर्मदा जबरदस्ती अपने जीजा से ब्याह दी जाने के बाद भी अलग रहकर जीवन यापन का फैसला करती सशक्त महिला साबित होती है।

नारी के कई रूपों में एक असीमा ऑक्सफॉम यू.एस.ए. की दिल्ली शाखा में कार्यरत तेज-तर्रार, तू-तड़ाक, गाली-गलौज, मर्द को पीटने में मज़ा लेने वाली, प्रतिरोध के स्वर को बुलंद करती विद्रोह के लिए सतत तैनात रहती है। हालात से मजबूर हो उदाहरण बनतेहर शख्स, समाज में ध्यान जरूर खींचते है कि क्या कुछ बदलाव की जरूरत है! असीमा के भीतर लगी आग जागरूक वैचारिक चैतन्य दृष्टि में महसूस करने वाली तृष्णा है जिसका मकसद सुधार से होकर गुजरता है। जो घुटने टेकने पर कतई

चित्र: अनिता दुबे

मंजूर नहीं चाहे फैसला उसके नाक के नीचे से बवाल मचाता हुआ गुजरे। जागरूकता आज चौरस्ते पर तमाशा बने खड़ी है और लोग नैतिकता और आदर्शों के ढोल पीटकर जीवन मूल्यों की तलाश में जुटें हैं। फिर भी औरत झेल रही है समाज में अपने दोयम दर्जे की औकात के साथ सुख और दुख का ताना-बाना। चाहे नर्मदा हो, स्मिता हो, नमिता या मारियान सभी अपने कडवे सच को झेलने को अभिशप्त है। मर्द भी दुख के हिस्सेदार है अपनी सबलता की डफली और ढोल के साथ, जिसे औरत की सोच में चस्पा दिया गया है जबकि उपन्यास उसका अलग उदाहरण है। असीमा समाज में नारी का ऐसा व्यक्तित्व है जिसे ठहर कर समझने की जरूरत है। नारी में इसके ठहराव की जरूरत है। इस पात्र को पढ़कर छोड़ दिया जाना, कुछ प्रश्नों का अनुत्तरित रह जाना ही होगा। असीम और असीमा के रहते नर्मदा अपनी ईमानदार मेहनत का फल, दर्जिन बीवी का बुटीक पाती है। पुरुष प्रधान समाज में यह उदाहरण चौंकाता है। असीम मौका परस्त के अलावा खुद को कुछ साबित नहीं कर पाता। नमिता खुद के लिए इससे बड़ा कोई नाम नहीं बना पाती जो बहन की प्रताड़ना आँखों से देखती, भागीदार बनती, आपसी घृणा का बदला पति से लेती है। माँ बनने को तरसती नर्मदा और स्मिता दूसरे के बच्चों में जीवन तलाशती है। बेचारगी का साथ असीमा भी देती है पर कहाँ साथ देता है समय, वह तो निकल ही जाता है आगे, असीमा की माँ की जिंदगी पर मौत का हस्ताक्षर करते हुए।

असीमा, नीरजा, स्मिता के त्रिकोण का केंद्र है विपिन, जिसे अपना चुनाव करना है और वह अपनी सी दुविधा में है जैसे आज का पुरुष। नारियों के कई ऑप्शन के बाद भी दुविधा। मन को खंगालने के बावजूद खुद को समय देना याने समझ की आखरी निशानी। वैसे भी जिंदगी को पूरी तसल्ली से जीना क्या बुरा है! हर तरह से चौक करने के बाद विपिन सम्मोह से गुजरते, प्यार में पड़ते, खुद को जाँचता, बाँचता है। पसंद ही तो नहीं हैसब कुछ खैर, कुछ बातें जिंदगी से वार्तालाप बढ़ा देती है। डूबते उतरने के बाद भी व्यक्ति भीतरी सच्चाईयों के खोह की तफ्तीश नहीं कर पाता। पुरुषों द्वारा लड़की में माँ को देखना बहुत साधारण सी बात है जो समाज में घटित होती रही है। विपिन द्वारा पाठक, पुरुषों के आम वैचारिक क्षेत्र तक पहुँचते, वर्तमान को देखते, समझते, खंगालते जिंदगी में क्यों/कैसे आगे बढ़ने के कारणों से दो-चार होते हैं। दिखता है विच्छेद का दुख पुरुषों को भी सालता है। नीरजा का खुद को 'बाँझ' करार देकर विपिन को ना कह कर दो बच्चों के पिता डॉ. जोशी के साथ घर बसाने का फैसला, लिव इन के बाद का विच्छेद है। जो दर्शाता है कि हर रिश्ते का एक अंत होता हैं। बच्चे पैदा करने या होने के यांत्रिक तरीके से होते हुए, यांत्रिक जज्बात और यांत्रिक संवेदनाओं के बीच प्रेम के यांत्रिक हो चुके रूप के बाद भी जीवन मृतप्राय सा अपनी साँसे बचा लेता है उपजाऊ भूमि की तलाश में। स्पष्ट है यंत्रों की दुनिया जीवन की संवेदनाओं व भावनाओं का धीरे-धीरे अंत करती है जबकि हर पल नई शुरुआत की आशा सँजोए आगे बढ़ते रहना ही जीवन है।

उपन्यास कुछ बिंदुओं पर ध्यान केंद्रित करता है। बाल्यावस्था में हुई घटना का जीवन में पड़ते गहरे प्रभाव के बाद, यह व्यक्ति के ऊपर निर्भर है कि शिक्षा का इस्तेमाल कैसे हो। लड़के-लड़की का फ़र्क मिटाने का लक्ष्य निसंदेह समाज के लिए गौरव की बात है। मात्र भाषा और तर्क बुद्धि की काबिलियत के आधार पर जानवर और इंसान का फ़र्क ना रखते हुए, संवेदनशीलता, इंसानियत, मानवता भी अपना अहम स्थान पाते है यह मानव जाति को स्तरीयता प्रदान करता है और करता रहेगा। पाठकों के सम्मुख लेखिका दिलकश तर्क रखती है, 'परंपरा की मार। पितृसत्ता के बोझ से दबी, अहम और संस्कार के बीच दुविधाग्रस्त खड़ी, बेचारी नारी! उसे अबला कहें या सबला? अहंकारी कहें या आत्मपीडक सुखी?जो मर्जी, कहिए। फ्रायड बड़े काम की चीज़ है।' (पृष्ठ 230) सघन बौद्धिक संयोजन आत्मविश्लेषण का अवसर देता है। सारे तर्कों के बाद भी आगे बढ़ना ही जीवन है।

पात्रों, घटनाओं, विदेश, शहर, गाँव कस्बों के साथ उच्च-मध्यम-निम्न वर्गीय लोगों के जीवन दृश्यों को पूरे जीवन मूल्यों के साथ देखना अच्छा लगता हैं। उपन्यास वैचारिक सघनता, भाषा की स्तरीयता, सूक्ष्म अवलोकन, सामाजिक दृष्टिकोण, मूल्यों, आदर्शों, आधुनिकता, विरासतों, भावनात्मक तटस्थता, घटनाओं की सहजता के साथ पूरी रोचकता लिए कई कसौटियों पर कस, निखर कर जो रोशनी देता है, समृद्ध करती है।●

'मैं और मैं'

आत्मग्रस्त और आत्मरतिव्यक्तित्व की सूक्ष्म अंतर्ध्वनि

प्रो. हर्षबाला शर्मा

मृदुला गर्ग अपने पात्रों के सन्दर्भ में लिखती हैं- 'मानसिक अंतर्द्वंद्व या असमंजस की स्थिति से छुटकारा पाया हुआ पात्र मेरे लिए दिलचस्पी का विषय नहीं रहता वैसे भी हमारा समाज जिस तरह की सक्रमंण की स्थिति में है, उसमें इस तरह की मानसिक दुविधा से मुक्त पात्र योटोपियन ही हो सकते है। मेरे लिए यूं भी दिलचस्पी का विषय यात्रा है पड़ाव नहीं। यात्रा किए बगैर ही 'तीसरा क्षितिज' मिल गया तो लिखने को क्या बचा?'

मृदुला गर्ग आधुनिक युग की महत्त्वपूर्ण लेखिका हैं जिनके शब्दकोश का सबसे प्रिय शब्द है- 'पैशन' उनके साहित्य में पैशन और नया रचने की खोज लगातार दिखाई देती है। चितकोबरा और कठगुलाब उपन्यास जहाँ स्त्री देह से जुड़े सवालों को केंद्र में रखते हैं वहीं 'मैं और मैं' बिलकुल अलग तरह का उपन्यास है जो रचनाकारों, कलाकारों के अहं से भरे और झूठे संसार के सच को दिखाता है।

सचमुच बहुत हिम्मत चाहिए ऐसा उपन्यास लिखने के लिए जहाँ जाकर सच-झूठ की रेखाएँ इस कदर मिलजुल जाती हैं कि इन्हें अलगाना असंभव सा हो जाता है। लेखकों, कलाकारों की दुनिया के अहं, उनकी आत्मग्रस्तता और अपनी रचनाओं की झूठी प्रशंसा की दुनिया में लिप्त झुण्डीय वृत्ति किस तरह सिर्फ झूठ और झूठ को की जरूरत बना लेती है, उपन्यास प्याज के छिलकों की तरह इसके राई-रेशे को सामने रख देता है। प्याज के छिलके इसलिए क्योंकि परत जब तक चढ़ी रहे तब तक बहुत असर दिखता है, परत उतरते ही अंदर सब लापता! अनेक लेखकों, रचनाकारों की दुनिया अंह के घालमेल से बनी है जहाँ एक लेखक दूसरे और दूसरा लेखक किसी तीसरे के अहं का पोषण करता चला जाता है एक दूसरे की रचनाओं की झूठी प्रशंसा और आत्ममोह से ग्रस्त जीवन को जीते हुए अक्सर लेखक उसी झूठ की दुनिया का हिस्सा बनते चले जाते हैं और इसके लिए वे मानवीय सम्बन्धों का शोषण करने में भी नहीं हिचकिचाते! एक क्षण के लिए भी।

जो थोड़े बहुत कलाकार इस स्वप्नीली पर झूठी दुनिया से बचकर भी चलना चाहते हैं उनके लिए यहाँ कोई जगह नहीं होती। यह आत्मग्रस्तता सिर्फ एक ही आवाज को उनके कानों में सुनाती है 'मैं और मैं'। वर्ग संघर्ष के असली खेल यहाँ खेले जाते हैं और अन्ततः आत्म सुख और आत्मरति से ग्रस्त लेखक और कलाकार एक दूसरे को ही नहीं खुद को भी छलते रहते हैं- यह एक चूहे-बिल्ली की दौड़ है, कौन किसको धर दबोचेगा- इसकी छद्म लड़ाई है और छद्म जीत-हार!

इस छद्म जीत-हार में रिश्तों का भी बेहिसाब इस्तेमाल है। पाठक इस उद्घाटन से हैरान रह जाता है। व न तो कौशल से घृणा कर पाता है न ही माधवी से संवेदना ही दिखा पाता है। दोनों ही बेहिसाब तरीके से एक दूसरे का इस्तेमाल करते हैं। इस उपन्यास को इसलिए भी पढ़ा जाना चाहिए क्योंकि आत्ममुग्धता की इस झूठी दुनिया की कई परत यहाँ उधडती हैं। ऐसे ताकतवर उपन्यास के लिए लेखिका को बधाई दी जानी चाहिए।

कथा के सूत्र के रूप में हमारे सामने माधवी और कौशल आते हैं- दिखने में एक दूसरे के विपरीत कौशल की बदसूरती का जिक्र शुरुआत से ही मिलता है- 'अपने कोने में सिमटते हुए माधवी ने महसूस किया, यह आदमी किस कदर बदशक्ल है। कुदरत तरफ से काफी मदद की है।'

चेचक के दागों से गुदे बीवी के चेहरे से लेकर घर से सटे पोखर तक की स्थिति के कारण किसी का शोषण करने के लिए कौशल दार्शनिक अंदाज का सहारा लेता है 'आह! असुन्दर के सम्मुख समर्पण करने की शक्ति स्त्री में ही हो सकती है। पुरुष तो कुरूप को नष्ट करके स्व को सुरक्षित रखना भर जानता है।

कौशल की भाषा का जाल बहुत खूबसूरत है। माधवी के भीतर की लालसा को पंख देने का काम उसकी भाषा करती है। कौशल अपने वर्ग की त्रासदी का कारण सभी मुनाफाखोरों को मानता है। इसलिए वह शोषण के बदले शोषण को सही मानता है। और यह शोषण भले ही किसी ने किसी का किया हो पर कौशल कुमार किसी अन्य का शोषण करके व्यक्तिगत लाभ को ही वर्गीय लाभ के रूप में देख लेता है। अजब सैद्धांतिकी है, व्यक्तिगत लाभ को ही शोषण के खिलाफ की आवाज मान लेना भर किस वर्गीय चेतना को दर्शाता है?लेखिका ने इस छद्म लड़ाई के असली चेहरे का उद्घाटन किया है। कौशल कुमार का मानना है- 'जोर जर्बदस्ती करके जो छीन लूंगा, वही मेरा होगा ना! मुझे अधिकार है छीनने का... जब मिली नफरत, हिकारत, उदासीनता मुझे अधिकार है कि अपने हिस्से आई नफरत दुनिया में बाँट दूँ। मूल-दर-सूद। पास में जो होगा वही तो औरों को दे सकता है आदमी।'

पर क्या यह वक्तव्य केवल वक्तव्य भर नहीं है? अपनी मर्जी से छोडी गई नौकरी 'हम किसी की गुलामी नहीं कर सकते', चेचक के चेहरे से भरी माँ से की गई नफरत या फिर अपने ही चेहरे से नफरत, चेचक के दागों से गुदे बीवी के चेहरे से लेकर घर से सटे पोखर तक की स्थिति के कारण किसी का शोषण करने के लिए कौशल दार्शनिक अंदाज का सहारा लेता है 'आह! असुन्दर के सम्मुख समर्पण करने की शक्ति स्त्री में ही हो सकती है। पुरुष तो कुरूप को नष्ट करके स्व को सुरक्षित रखना भर जानता है। इसीलिए तो बार बार पराजित होता है! और स्त्री! जो असुन्दर है। कुत्सित है, वीभत्स है, उसे गले लगा लेती है, उसमें विलीन हो जाती है।' दर्शन का यह वाकजाल जहां पाठक को हैरान कर देता है वहीं माधवी को भी वितृष्णा से भर देता है। पर इस खेल का खलनायक कौशल ही नहीं है माधवी भी है। माधवी को भी इस खेल में आनन्द आने लगता है। किसे नहीं भाती अपनी रचनाओं की भूरि-भूरि प्रशंसा! कौन जानना चाहता है कि इस प्रशंसा का कितना हिस्सा तार्किक है और कितना रोमानी! माधवी भी उस आकाश में विचरना चाहती है जहां उसकी प्रशंसा के जाल बुने गए हो। पर ये कहानी कौशल कुमार की धूर्तता अथवा माधवी के इस्तेमाल भर की नहीं है बल्कि माधवी के भी इस शतरंज के खेल में शामिल हो जाने की भी है।

'माधवी ने आत्मविश्लेषण स्थगित न कर रखा

होता तो कहती। नहीं, बार-बार परे धकेलने पर भी जो आदमी लौट-लौटकर आता है, उसे परे धकेलने में एक आनन्द है। जिसकी चाहत आकर्षण-विकर्षण के खेल की हर पारी के बाद बढ़ती ही जाती है।'

ये शतरंज का खेल है जिसे आत्ममुग्ध समाज खेलता है- बड़े-बड़े शब्दों का जाल बिछाता है और हर वर्ग को यकीन दिलाता है, मानो ये उसी की लड़ाई लड़ रहा हो! कौशल और माधवी बाहरी रिश्तों का ही नहीं भीतरी, बेहद करीबी रिश्तों का भी बेहिसाब इस्तेमाल करते हैं और इसमें कतई नहीं हिचकिचाते! ये उपन्यास स्त्री-पुरुष सम्बन्धों, अस्मिता विमर्श अथवा देह की खोज पर बात नहीं करता बल्कि एक बिल्कुल अनछुए विषय 'मानवीय सम्बन्धों के बेहिसाब इस्तेमाल और उसके लिए तार्किक जस्टीफिकेशन देने की कोशिश' पर बात करता है। व्यक्तिगत तौर पर चितकोबरा की भाषा मुझे बेहद आकर्षक लगती है पर कंटेंट के स्तर पर ये उपन्यास एक चुनौती की तरह आता है। आप उसमें किसी विमर्श, स्त्री पाठ को ढूंढते हैं पर ये उपन्यास बड़ी-बड़ी बातों की सतरों के बीच छिपे छोटे चरित्र को उधेड़ने का काम करता है। दार्शनिक वाग्जाल बुनने वाले, त्रिवेणी में बैठकर बुद्धिजीविता के अहं को पोषित करते और साधारणता को असाधारणता का जामा पहनाने वाले बुद्धिजीवियों, कलाकारों, रचनाकारों के चरित्र को तार-तार कर देने वाले इस उपन्यास की चर्चा इतनी कम क्यों हुई, इसे समझा जा सकता है।

इस उपन्यास के पात्रों में सबसे ज्यादा यदि किसी से सहानुभूति होती है तो वह है- माधवी का पति राकेश! राकेश व्यापार चलाता है पर व्यापार बुद्धि से नहीं चलता! अपनी पत्नी के कौशल के साथ लिप्त होने पर भी राकेश उसका साथ नहीं छोड़ता बल्कि कौशल की जोंक प्रवृत्ति को दूर करके उसे काम करने की तरफ मोड़ना चाहता है पर जिसे जोंक बनकर खून पीने की आदत बन गई हो, वह काम क्योंकर करे?राकेश कहता है 'विद्रोह का यह भी तो रूप हो सकता है कि बैल की तरह जुआ होने के बजाय आदमी जोंक की तरह खून पीने लगे।' साथ ही वह कहता है 'जरूरी नहीं कि जोंक आदमी का ही खून पिए, दूसरी जोंक का भी पी सकती है' माधवी की जोंक प्रवृत्ति से भी वह वाकिफ है 'नाटकीय हमदर्दी' दिखाकर और लेकर खुद को महान बनाने और मानने की वृत्ति पर राकेश प्रहार करता है। इसके बावजूद वह कौशल को कारखाना खोलकर देता है, बीस हजार की मदद भी करता है पर शब्दों के जाल बुनकर किसी को रचनाकार बताने वाला कौशल कुमार उस पैसे का भी वही उपयोग करता है जो पहले करता आया है- अय्याशी और दारू में डुबाकर वर्गीय गाली का इस्तेमाल करने के लिए! कौशल कुमार दंगों में हत्या करने, अपनी प्रेमिका सलमा के प्रेम से इनकार करने पर दंगाइयों को उसका पता बताने के लिए जहाँ खुद को दोषी न मानकर सामजिक व्यवस्था को दोषी मानता है और इसी आधार पर किसी का भी शोषण करने को वाजिब मान लेता है, उसे देखकर यह सत्य उद्घाटित होता है तब तक माधवी भी इस

खेल की माहिर बन चुकी है, खून पीने वाली, जोंक बनकर खुद का खून पीने देने को तैयार और दूसरे का खून पीकर फलने-फूलने को भी तैयार!

इस पूरे खेल में राकेश के साथ सहानुभूति भी होती है और वही ठगा भी जाता है। रिश्तों के मनमर्जी के इस्तेमाल का वह शिकार भी होता है। माधवी और कौशल अब यह खेल खेलते रहेंगे क्योंकि वह भी अब उस खेल के माहिर खिलाड़ी बन चुके हैं।

पर माधवी का इस निष्कर्ष तक पहुंचने का संघर्ष उसी अपराधबोध से बना है जिसका जिक्र मृदुला जी 'कठगुलाब' में करती हैं 'यूं तो हर औरत मर्द में किसी न किसी बात को लेकर अपराध बोध होता है पर औरतें इस मामले में ज्यादा ही सिद्धहस्त होती हैं। अपराध बोध पैदा करने में उनकी कल्पना शक्ति साइंस फिक्शन लिखने वालों को मात देती है। बच्चा भरपेट नाश्ता किए बगैर स्कूल चला जाए तो अपराध बोध, ब्लड प्रेशर की माकूल खुराक न खाने से पति को लकवा मार जाए तो अपराध बोध...

माधवी में भी यह अपराध बोध विपुल मात्रा में है। बच्चों को समय पर खाना नहीं खिला पाई से लेकर समाज में कौशल कुमार की निम्नवर्गीय स्थिति के लिए वह खुद को जिम्मेदार मानने लगती है- कहीं प्रत्यक्ष तो कहीं अप्रत्यक्ष! कौशल कुमार उसे 'सुंदर और बेवकूफ' एकसाथ कहकर अट्टहास करता है और इस बात का दम भरता है कि उसका शोषण करके वह उसे लेखन की खुराक दे रहा है। वह माधवी के जिस्म को पाने के लिए जैनेन्द्र की सुनीता का दर्शन गढ़ता है, उसके वर्ग को समस्त बुराइयों के लिए जिम्मेदार ठहराता है, औरत को कुरूपता स्वीकार करने वाली शक्ति बताता है पर उसके जिस्म को हासिल नहीं कर पाता! माधवी के लिए भी यह खेल धीरे धीरे बौद्धिक खुराक का काम करने लगता है, तब वह कहती है- कितना आसान है एक के बाद एक झूठ बोलते चले जाना। और कितनी खूबसूरत -पारदर्शी और रंग बिरंगी है झूठ की दुनिया। सच क्या है उसके सामने! एक ठोस, मटमैला और खुरदुरा पत्थर!

और तब वह उस मकड़जाल और चूहेदानी के खेल की हिस्सेदारी के आनंद का हिस्सा बन जाती है, जिसमें अनेक आत्मरति से ग्रस्त लेखक, कलाकार और रचनाकार पहले से ही हिस्सेदार बने हुए हैं- 'अब माधवी को पूरे व्यापार में मजा आने लगा था। अपने बिछाए जाल में खुद फंसा आदमी कितनी मनोरंजक चेष्टाएँ करता है' वाह मेरे दोस्त! अब तुम और मैं एक ही दायरे के अंदर कैद हैं। क्या झूठ है और क्या सच?

मृदुला गर्ग जी का यह उपन्यास रचनाओं की समीक्षात्मक टिप्पणियों से भी गुजारता है। माधवी की रचनाओं पर कौशल की टिप्पणी, समाज की वीभत्स स्थितियों पर कौशल की बेबाक पर एक निश्चित तरह की राय, माधवी का मध्यवर्गीय अपराधबोध और उस समाज की निम्नस्तरीय स्थितियों के लिए स्वयं को भी उत्तरदायी मानना आदि ऐसी अनेक घटनाएँ हैं जो इस उपन्यास की संरचना को निर्मित करती हैं। मृदुला जी की ताकत है कि वे रचनाओं में अंतर्द्वन्द्वको केन्द्रीय मानती हैं जिसकी इस उपन्यास में भी अत्यंत सशक्त उपस्थिति है। यह उपन्यास कोई निष्कर्ष नहीं देता बस एक तटस्थ तीसरे आदमी के होने के अहसास से भरता है जो अपने निष्कर्ष निकाल सकता है, ठीक इन पात्रों जैसा हो सकता है, इनसे अलग हो सकता है या फिर एक आह भरकर किसी अंत के प्रतीक्षा कर सकता है। मुझे लगता है कि हिन्दी साहित्य में इस उपन्यास के कंटेंट को लेकर एक गहन विचार विमर्श होना चाहिए जो इसकी परतों को खोलने में और अधिक सहायक हो सकता है। एक कम चर्चित पर बेहद जरूरी उपन्यास जिस पर बात बेहद जरूरी है। ●

मिलजुल मन : स्त्री मन की गहन पड़ताल

मिलजुल मन की स्त्रियां शोषित नहीं है, अपितु सबल हैं-

अनुराधा ओस

मिलजुल मन उपन्यास प्रसिद्ध कथाकार मृदुला गर्ग का आत्मकथात्मक उपन्यास है। इस उपन्यास को साहित्य अकादमी सम्मान से सम्मानित किया गया है। कथानक पिछले पचास वर्षों के घटनाक्रम को व्यक्त करता है, पचासवें दशक के मध्यम वर्ग के जीवन के सामाजिक पारिवारिक संरचना पर प्रकाश डालती हैं। उस समय के समाज की मनःस्थिति क्या थी, मृदुला जी की स्त्री पात्र स्वतंत्र विचारों की पोषक हैं। इन स्त्रियों को दबाया नही गया है बल्कि उन्हें निर्णय करने की स्वतंत्रता एवं अधिकार है।

इस उपन्यास की कहानी मोगरा तथा गुलमोहर दो बहनों के इर्द गिर्द घूमती है। मिलजुल मन उपन्यास की कहानी मूलतः मृदुला जी की बड़ी बहन जो इस उपन्यास में गुलमोहर की भूमिका में है, उन पर आधारित है। उनके पिता बैजनाथ जैन एक स्वतंत्रता आंदोलन के फौजी हैं तथा वे छोटे लाला के यहाँ काम करते थे, माता कनकलता बड़ी साहित्य प्रेमी स्त्री थीं, तथा घर गृहस्थी से विमुख रहती थी, जिसके कारण उनके पिता ने माता तथा पिता की भूमिका निभाई, इसीलिए गुलमोहर मोगरा से अपने पिता के विषय में कहती है।

'बेवकूफ! पिताजी की तरह सब मर्द बाप नही होते कि औलाद के साथ नाज़नीन बीबी को भी बच्चों की तरह पालें'

गुलमोहर और मोगरा परिपक्व विचारों वाली युवतियां थी, जिसकी वजह से विपरीत परिस्थितियों में कुशलता से घर को संभाल लेती हैं। गुलमोहर को पढ़ने-लिखने में कुछ ख़ास नही रुचि नहीं रखती है और मोगरा डॉक्टर बनने की इच्छा रखती है। गुलमोहर के परीक्षा पास हो जाने से पूरे परिवार को आश्चर्य होता है, गुलमोहर आगे गृहविज्ञान तथा कला विषय लेती है, परन्तु गुलमोहर की सहेलियों द्वारा भय दिखाए जाने के कारण मोगरा भी डॉक्टरी का इरादा बदल देती है। अध्ययन के दौरान गुलमोहर को 'शमित' नामक युवक से प्रेम हो जाता है, जिससे उसकी शादी भी हो जाती है, वही मोगरा का अमेरिका से वापस 'पवन' नामक युवक से विवाह होता है, मोगरा स्वतंत्र विचारों वाली लड़की है, ससुराल के कुछ रीति रिवाज नही स्वीकार करती।

शमित का कानपुर तबादला होने पर गुलमोहर भी वहीं जाती है तथा वहीं जुड़वा बच्चों को जन्म देती है, विवाह के दस वर्ष पश्चात गुलमोहर लेखन आरंभ करती है।

इस उपन्यास के प्रमुख पुरुष पात्र गुलमोहर के पिता बैजनाथ जैन हैं, जो कि एक जिम्मेदार पिता होने के साथ-साथ कुशल व्यवसाई भी है। वे कभी भी लड़के तथा लड़की में भेदभाव नहीं करते अतः उन्होंने हमेशा गुलमोहर तथा मोगरा की शिक्षा-दीक्षा पर विशेष ध्यान दिया है। वहीं दूसरी ओर इसी उपन्यास का पात्र करमचंद का मानना है कि बेटियां नुकसान तथा बेटे नफ़ा होते हैं।

इस उपन्यास के नारी पात्र शोषित नही है, बल्कि जागरूक हैं, शिक्षा के प्रति, अपने अधिकारों के प्रति तथा राजनीतिक मुद्दों पर अपनी निजी राय रखती हैं, मोगरा के रूप में लेखिका स्वयं को चित्रित करती हैं तथा गुलमोहर के रूप में अपनी बहन मंजुल भगत को चित्रित करती हैं। उपन्यास की एक पात्र लाला की बीबी है जिसे पति के मर जाने पर अफ़सोस से ज्यादा इस बात की खुशी है कि उनकी मौत किसी तवायफखाने में नही हुई वरना समाज में बदनामी होती।

भाषा में अलग ही खिंचाव है कल-कल बहती किसी नदी के समान अलग कलेवर लिए हुए। यह उपन्यास गुल के उन पक्षों पर एक तफसीली नज़र है जो एक लड़की, एक मनुष्य, एक प्रेमिका, एक पत्नी है और कथाकार के रँगों में झलकती है। दादी के मुँह से अंग्रेजी की कविता सुनकर आँखो में आँसू आ जाते हैं।

'माई लव इज़ लाइक ए रेड रेड रेड रोज माई लव इज़ लाइक ए ब्लू ब्लू ब्लू वॉयलट'

मृदुला जी की कृतियाँ स्त्री पात्रों के मन की गहन

पड़ताल करती हैं मृदुला जी की कहानियां, चाहे वह चित्तकोबरा हो या मिलजुल मन, पारबती पूरी तरह कनकलता पर मोहित थी, वह मर्द नही थी, इस एक रुख़ को छोड़कर हर मायने में उसकी उलट थी इसलिए मोह लाज़मी था, दोनो में किसी मर्द का न होना मोह को बढ़ावा देता है, वह पितृसत्तात्मक समाज की बात को बखूबी समझती हैं उन्होंने कहा -

'हर खुद्दार मर्द को अपनी खुदी से बेइंतहा लगाव होता है, तभी वारिस पैदा करके अपना नाम कायम रखना चाहता है, औरत ज्यादातर माध्यम का काम करती है।' आजादी के बाद का समाज कैसा था, किस तरह के बदलाव आए स्त्रियों में शिक्षा को लेकर कितना मूल्यपरक बदलाव हुए वे कैसे परिस्थितियों के साथ ताल मेल करती हैं, मृदुला जी ने इस उपन्यास में बखूबी उतारा है। रोचक भाषा शैली धुली-धुली सी भाषिक कोमलता लिए हुए पठनीय है। ●

चितकोबरा :
स्त्री विमर्श का नया आयाम

मृदुला गर्ग के उपन्यास चितकोबरा को छपे करीब 45 साल हो गए लेकिन अभी भी वह पाठकों के बीच उतना ही लोकप्रिय है। आपको मालूम होगा कि इस उपन्यास को अश्लील करार दिया गया था और मृदुला जी को गिरफ्तार कर लिया गया। तब हिंदुत्ववादी ताकतों का उभार नहीं हुआ था लेकिन भारतीय समाज का कठमुल्लापन तब भी था। आज उस उपन्यास का पुनर्पाठ युवा आलोचक एवं कवयित्री सुधा तिवारी कर रही हैं और उसे स्त्री विमर्श का नया आयाम बता रहीं हैं।

डॉ. सुधा तिवारी

हिंदी की प्रसिद्ध लेखिका मृदुला गर्ग ने साहित्य की दुनिया में पांच दशक में बहुत कुछ दिया है और वह एक लेखिका होने के साथ सामाजिक कार्यकर्ता भी हैं पर प्रचलित अर्थों में नहीं और पर्यावरण के महत्व को भी समझती हैं, यही कारण है कि मानव-निर्मित समस्त विद्रूपताओं के प्रति उनकी लेखनी मुखर रही है। इसके साथ ही वह जबरदस्त यात्री भी हैं और तमाम व्यवधानों के बीच उनकी साहित्य-यात्रा भी अनवरत चलती रही। उनके व्यक्तित्व एवं लेखन तथा साहित्यानुराग उनके पिता के संस्कारों एवं संरक्षण में निखरा। पिता की ही तरह मृदुला जी ने भी अपने पारिवारिक दायित्वों को लेखन के साथ-साथ बड़ी खूबसूरती से संभाला। आजादी के पूर्व और आजादी के बाद की लेखिकाओं के बीच तुलनात्मक दृष्टिकोण से जगदीश्वर चतुर्वेदी 'स्त्रीवादी साहित्य विमर्श' में लिखते हैं- 'आजादी के पहले स्त्री कहानी में जहां समाज सुधार, परिवार एवं स्वाधीनता संग्राम हावी था वहीं स्वतंत्र्योत्तर दौर की कहानी समाज-सुधार की बजाय स्त्री के सामाजिक अधिकार, अस्मिता, इच्छा शक्ति और प्रतिरोध को तरजीह देती है। स्त्री लेखिकाओं ने पूंजीवादी व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं की तीखी रचनात्मक आलोचना लिखी है जो कि आजादी पूर्व की कहानियों में तकरीबन नदारद है। नई कहानी के दौर में मन्नू भण्डारी, उषा प्रियंवदा, कृष्णा सोबती एवं शिवानी ने स्त्री के मन एवं जिंदगी के प्रामाणिक यथार्थ को उकेर स्त्री चरित्रों की दोहरी स्थिति, मूल्यगत तनावों को वैयक्तिक दृष्टिकोण से रूपायित किया।' (पृ.157)

मृदुला गर्ग का बहुचर्चित और कुछ हद तक विवादास्पद उपन्यास 'चित्तकोबरा' की विषय-वस्तु अपने समय और समाज से काफी आगे की बात कहती है। कुछ-कुछ कंफेशन की तरह नायिका अपने जीवन, अपने अनुभव और चरित्र को अनुभूति-दर-अनुभूति खोलती चलती है। हालांकि कंफेशन को कायरता मानते हुए इसे अपने पाप का बोझ दूसरे मनुष्य के कंधे पर उतार रखने का एक उपक्रम ही मानता है रिचर्ड। अब रिचर्ड कौन है, नायक या प्रतिनायक?चित्तकोबरा का कथ्य कई मामलों में दिलचस्प है। नायिका तो मनु है पर कथा का नायक कौन है?रिचर्ड, जिसके प्रेम में मनु आकंठ डूबी है?या महेश जिसे खुद से दूर जाती पत्नी (मनु) से बेबसी की हद तक चाहत हो आयी है?कहानी एक अजूबा त्रिकोण रचती है, बरमूडा त्रिकोण सी रहस्यमयी।

ऐसे ही त्रिकोण पर रची दो अन्य कहानियों की ओर ध्यान जाता है- 'ऊंचाई' और 'यही सच है'। ऊंचाई कहानी में नायिका अपने पूर्व प्रेमी से हुई अचानक मुलाकात के बाद उसके प्रति तीव्र आकर्षण महसूस करती है और साथ ही उसके एकाकी जीवन का कारण भी कहीं-न-कहीं खुद को महसूस करती है और एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच कर ठिठक पड़ती है जहां अपने वर्तमान और अतीत के आकर्षण के चक्रव्यूह में खुद को बुरी तरह फंसा हुआ देखती है। विवाह और उसके पूर्व या बाद के संबंधों का यह द्वन्द्व पारंपरिक भारतीय समाज में होना कोई हैरत की बात नहीं है। यह द्वंद्वमनुष्य की स्वाभाविक प्रवृति या basic instinct का, उसकी सामाजिक कन्डीशनिंग या प्रशिक्षण के बरक्स सहज प्रस्फुटन है। वह विवाह संस्था जिसमें महेश का विश्वास नहीं है, जिसे मनु तयशुदा विवाह कहती है और महेश जिसे समाज द्वारा अपनी सुरक्षा के लिए ढूंढा उपाय, उसके औचित्य पर प्रश्न खड़ा करती हैं ये कहानियाँ। चित्तकोबरा में महेश मनु से कहता है-

'अगर समाज में रहने वाले हर पति को अपनी पत्नी से प्यार होगा और हर पत्नी को पति से, तो समाज की भला कौन परवाह करेगा?बच्चों की परवरिश बंद हो जाएगी। व्यापार-व्यवसाय ठप्प हो जाएंगे। राजनीति का भट्ठा बैठ जाएगा। बड़े-बूढ़े मर-खप जाएंगे। सभी स्त्री-पुरुष एक-दूसरे में डूबे रहेंगे और देश रसातल को चला जाएगा। प्यार होने पर और कुछ नहीं सूझता, है न?

हमारा समाज कितना सूझ-बूझ वाला है,' उसी ने कहा, 'अपनी सुरक्षा का कितना बढ़िया उपाय ढूंढ निकाला है।

तयशुदा ब्याह। है न?ठीक कह रहा हूँ न मैं?'

इसी तयशुदा ब्याह के चक्र में फंसे महेश और मनु यंत्रवत बहते चले जाते हैं, समाज में वे एक आदर्श जोड़ी के रूप में आदर और प्रशंसा प्राप्त करते हैं परंतु एक नाटक के दौरान मनु की रिचर्ड से मुलाकात इस तय जीवन में भूचाल ले आती है। रिचर्ड और मनु दोनों ही शादीशुदा हैं और विवाहेतर संबंध में एक-दूसरे के साथ असीम सुख पाते हैं, यह बात कई हलकों में नागवार गुजरी थी।

चित्तकोबरा एक अनुभूति-परक उपन्यास है। इसके कथा का फलक बहुत विस्तार लिए हुए नहीं है पर एक-एक क्षण की सघन अनुभूति दर्ज करने में यह पीछे नहीं रही है। सोते हुए रिचर्ड का ऑर्किड के फूल में तब्दील हो जाने का दृश्य एक मनमोहक चित्र है, भले ही वहाँ मृत्यु की आशंका या भय पृष्ठभूमि में काम कर रहा है।

'कैसे खिल आया... कमरे के गहराते झुटपुटे में?जरूर कहीं कोई भगवान है... या नियति...

वह ऑर्किड्स के नीचे दबा पड़ा है। उसके चेहरे का रंग ऑर्किड्स की तरह मोतिया है। बंद आँखों के नीचे जामुनी छाया है। उसके ओंठ ऑर्किड्स के दिल की तरह नीले पड़ते जा रहे हैं।'

एक उपन्यासकार अपनी कथा में बहुत सारे

विषय उठाता है, विभिन्न मुद्दों पर चर्चा करता है या मुख्य कहानी के साथ-साथ अनेक उपकथाएं उपन्यास का हिस्सा हो सकती हैं, परंतु उसका एक केन्द्रीय विषय या मुद्दा जरूर होता है जिसके आस-पास सारे चरित्र एवं कथाएं गढ़ी जाती हैं। वह केन्द्रीय प्रश्न कथा का क्या है? उसी से लेखक का स्टैन्ड निर्धारित होता है। कृष्णा सोबती, चित्रा मुद्गल, मंजुल भगत, उषा प्रियंवदा, ममता कालिया आदि लेखिकाओं ने समाज की विसंगतियों एवं विद्रूपताओं को उजागर करते हुए राजनैतिक-आर्थिक मुद्दों पर भी बेबाकी से लिखा और इसके साथ ही स्त्री अस्मिता, पारिवारिक घुटन, वैयक्तिक बेचैनी को भी अपने कथा साहित्य में प्रमुख विषय बनाया। यहाँ उल्लेखनीय है कि इन सब बातों के होते हुए भी स्त्री मुक्ति का प्रश्न इनके लेखन के केंद्र में रहा।

अपने कथ्य और शिल्प में मृदुला गर्ग के उपन्यास कृष्णा सोबती के करीब पड़ते हैं। लेकिन यह भी तथ्य है कि चित्तकोबरा की विषय-वस्तु स्त्री, काम एवं प्रेम होकर भी यह उपन्यास कृष्णा सोबती के 'मित्रों मरजानी' या 'डार से बिछुड़ी' के मयार को नहीं छू पाती है। नायिका के सौन्दर्य चित्रण में 'डार से बिछुड़ी' की पाशो का कोई सानी नहीं है। मित्रों जितनी मुँहजोर है उतनी ही स्वाभाविक भी, उसकी कोई अनुभूति या अभिव्यक्ति ओढ़ी हुई नहीं लगती। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि मनु, महेश या रिचर्ड सभी मध्यवर्गीय पात्र हैं, जो बड़े-बड़े आदर्श भारी बातों पे लहालोट हो सकता है, रोमांचित भी परंतु जब निर्णय की घड़ी आती है उसके पास कोई नायाब तरकीब होती है, एकदम ऐसा जरूरी काम जिसकी वजह से कितनी भी बड़ी पुकार को टाला जा सकता है। चित्तकोबरा की मनु पादरी रिचर्ड के काम, उसके आदर्श, परोपकार के लिए जीवनोत्सर्ग के अटल भाव की जबरदस्त कायल है, बांग्लादेश के कातर जनों की पुकार से वहाँ जाने को उद्यत हो जाती है, पर ऐन जाने के पहले अनजाने देश में अकेले छूट जाने के ख्याल से विकल हो अपने बच्चों की चिंता में शरण लेती है। मध्यवर्गीय जीवन और पात्र एक सुरक्षित जीवन एवं भौतिक सुविधाओं को छोड़कर अजाने जोखिम की ओर अक्सर उन्मुख नहीं होते। खैर, जो नहीं है उसे छोड़ उपन्यास में जो है अगर उसकी बात की जाए, तो जैसा कि लेखिका ने स्वयं भूमिका में कहा है 'जो लिखा है उसे उपन्यास कहते मुझे संकोच हो रहा है। जिस तरह यह लिखा गया, याद करके हँसी आती है। एक कहानी थी जो मेरे अंतर्मन में फैलती-सिकुड़ती रहती थी। फिर... एक दिन उस कहानी के अंतराल का एक-एक क्षण अपनी कड़ी से टूटकर बिखर गया।' लेकिन इस बिखराव से भी कुछ अंश अत्यंत कलात्मक बन पड़े हैं-

'देखो, चाँद के चारों तरफ घेरा है। नीली रोशनी का...देखा?'

...'पर आदमी जब खुश होता है तो नाचता है- चाँद के घेरे के नीचे। खुले में। आत्मविभोर होकर। एक आत्मा जन्म लेती है उसके भीतर।

...आवाजों के घेरे में कैद मैं कमरे में चली आयी हूँ।

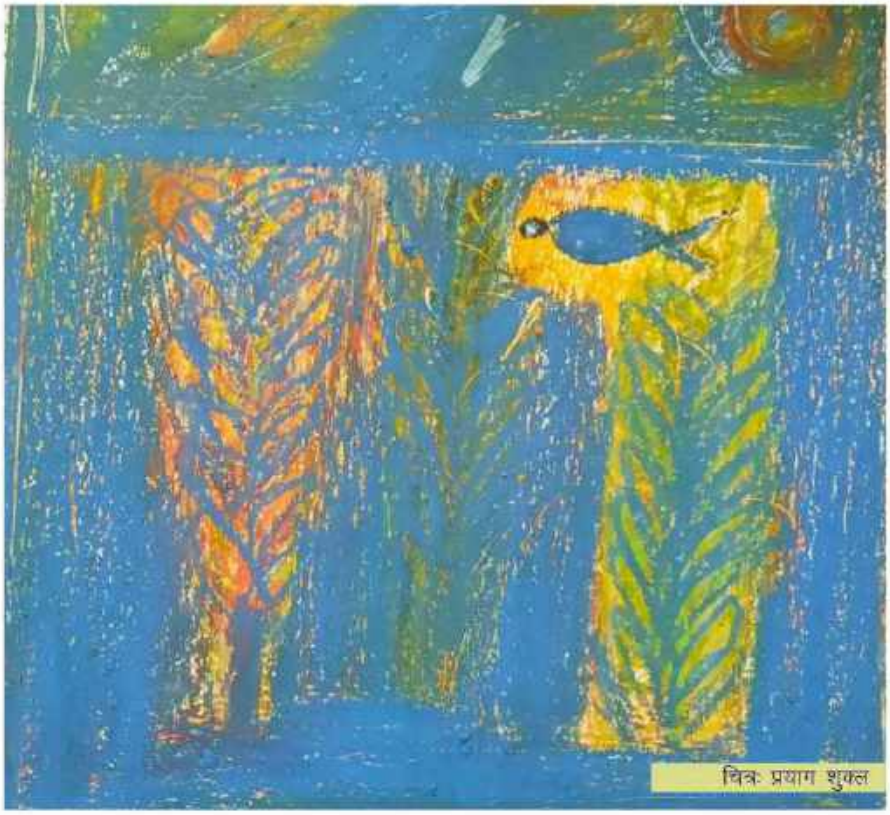
चित्र: प्रयाग शुक्ल

महेश झपटकर आगे आ गया है।

'क्या हो गया था?उसने पूछा है। प्यार से, आशंका से- 'तबीयत तो ठीक है न?बाहर क्यों चली गयी थीं?'

'चाँद के चारों तरफ नीली रोशनी का घेरा है'। '(चित्तकोबरा, पृ.सं. 14–15) और कॉकटेल पार्टी की शोर में, नाचते हुए जोड़ों के बीच मनु असीम आश्वस्ति का अनुभव करते हुए कहती है- 'अच्छा ही है, इनमें से कोई नहीं जानता कि मैंने चाँद के नीले घेरे को शीशे में उतार लिया है और शीशा मेरे पर्स में महफूज है। मैं कहीं भी रहूँ, वह मेरे साथ होगा।'

इस उपन्यास की खूबसूरती इसमें है कि कथा के सूत्र संवादों से खुलते हैं। किरदारों की बातें, कल्पनाएं, चुहल और आशंकाओं की डोर पाठक का हाथ थामे कथा में उसे बहाए लिए जाती है। चित्तकोबरा की एक विशेषता इस तथ्य में भी है कि जहां 'ऊंचाई' और 'यही सच है' के पात्र वर्तमान एवं भविष्य के प्रेम में ही उलझे किसी एक जीवन को अंततः चुनते हैं चित्तकोबरा की नायिका 'मनु' सृजन को चुनती है। इस मायने में वह वस्तुतः राहों की अन्वेषी है। इस अर्थ में चित्तकोबरा उपन्यास मृदुला गर्ग के एक अन्य उपन्यास 'उसके हिस्से की धूप' की अगली कड़ी है, क्योंकि दोनों ही उपन्यासों में नायिका के द्वन्द्वकी समाप्ति साहित्य-सृजन में होती है। नैतिकता-अनैतिकता के परे स्वच्छंद स्त्री-पुरुष संबंधों को प्रस्तुत करना ही उपन्यास का ध्येय है और यही प्रस्तुति इसे विवादों के घेरे तक ले आयी है। फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद का सिद्धांत भी इस लेखन की कड़ी रही है। 'उसके हिस्से की धूप' तीन पात्रों- मनीषा, जितेन और मधुकर के इर्द-गिर्द बुनी गयी है। इस उपन्यास में पति जितेन की व्यस्तता के कारण पत्नी मनीषा दाम्पत्येतर संबंध की तरफ बढ़ती है और नौबत तलाक तक पहुँच जाती है। परंतु विवाह मनीषा की स्वतंत्रता का पर्याय नहीं बनता, वस्तुतः वह हो भी नहीं सकता। 'स्व' की तलाश करती मनीषा दोनों पतियों- जितेन और मधुकर से असन्तुष्ट ही रहती है। नायिका को निजता का अनुभव तब होता है जब उसकी अपनी कृति का सृजन होता है।

मृदुला जी की कहानियों में स्त्री, अस्तित्व-बोध एवं प्रतिरोध की प्रक्रिया से सीधे तौर पर जूझती हुई दिखाई पड़ती है, यह केवल पुरुष का ही entitlement क्यों हो कि वह अनुभूति से गुजरने के बाद निर्णय ले, स्त्री भी अनिर्णय की इस प्रक्रिया से गुजर सकती है। लेखिका एक प्रश्न और करती हैं चित्तकोबरा के माध्यम से कि आखिर संसार के अलग-अलग धर्मों की मुख्तलीफ़ नागरिक-संहिताएं हैं परंतु क्या कारण है कि सबकी सब मूल रूप से स्त्री-द्वेषी हैं। मृदुला जी के उपन्यासों पर विवाद का एक कारण उनमें ऐसी उन्मुक्त स्त्रियों का चित्रण है जो बगैर किसी गिल्ट के विवाहेतर संबंधों को जीती है। इनमें सेक्स का अनावृत चित्रण भी विवाद का एक विषय है। लेखिका का इन्हीं मुद्दों पर सारिका में छपा एक स्पष्टीकरण है- 'मैं समझती हूँ कि साहित्य में 'लील-अश्लील महत्वपूर्ण मुद्दा है ही नहीं... चित्तकोबरा के एक दृश्य को लेकर बावेला मच गया था। मन्तव्य था सम्पूर्ण प्रेम (जिसमें शरीर अभीष्ट नहीं होता, पर सम्प्रेषण का माध्यम अवश्य होता है) और प्रेमहीन शारीरिकता के विरोध को दिखलाना।'●

उसके हिस्से की धूप : मैं इस पुरुष के लिए क्या हूँ?

किशोर कुमार

'उसके हिस्से की धूप' उपन्यास मृदुला गर्ग की पहली कृति है जिसे सन् 1975 में अक्षर प्रकाशन से राजेंद्र यादव ने छापा था। यह स्त्री-पुरुष संबंधों पर आधारित एक प्रौढ़, सर्वाधिक चर्चित, प्रशंसित उपन्यास है। यह शायद पहला उपन्यास था किसी भी भाषा में, जिसमें विवाह के इतर प्रेम होने पर स्त्री को कोई अपराध बोध नहीं होता है। यह उपन्यास समय में बंधकर नहीं बल्कि आगे के बारे में लिखा गया है। सन 1975 में जब लेखिका विवाहेत्तर संबंधों के बारे में लिख रही थी तो उस समय समाज में ऐसी घटनाएं घटित हो रही थी लेकिन सच कहने का जोखिम कोई उठाना नहीं चाहता था। लेखिका 'उसके हिस्से की धूप' उपन्यास के माध्यम से हिंदी साहित्य में नए मानदंड को लेकर उपस्थित होती हैं। जो पुरातन रूढ़िवादी स्त्रियों के प्रति धारणा को ध्वस्त करती है। अपने अधिकांश उपन्यासों में वह आज की नारी को उसके सहज मानवीय रूप में चित्रित करती हैं तथा उसके अस्तित्व को स्वतंत्र रूप में दृढ़ता पूर्वक स्वीकार करती हैं।

मृदुला गर्ग ने इस उपन्यास के माध्यम से स्त्री की प्रचलित छवि को तोड़ना चाहा है 'मैं इस पुरुष के लिए क्या हूं?' यह पूछने वाली स्त्री यह प्रश्न पूछने लगती है कि 'मैं क्या हूं?' यह उपन्यास स्त्री को अपने आप से परिचित करवाता है और सिर्फ परिचित ही नहीं कराता बल्कि स्त्री जीवन की सार्थकता का नया मार्ग तलाश करता है। प्रस्तुत उपन्यास में जितेन, मनीषा, मधुकर तीन प्रमुख पात्र हैं। मनीषा अपना आरंभिक जीवन जितेन से विवाह करके व्यतीत करती है, बेशक जितेन भी उसे बहुत प्रेम करता है परंतु बेंगलुरु में कागज बनाने की फैक्ट्री में दिन-रात काम करने में व्यस्त जितेन उसे वक्त नहीं दे पाता और उसका अकेलापन बढ़ता ही जाता है। जितेन खुद भी आजाद मिजाज का था और औरों को भी आजादी देता था। जितेन विचारों से परिपक्व एवं काफी समझदार आदमी था। वह रिश्तों को अपने या दूसरों पर हावी होने नहीं देता था वही मनीषा के पास समय ही समय था। उसे ही हमेशा जितेन के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती थी इसी अकेलेपन से बचने के लिए वह कॉलेज में अध्यापकी करने लगती है। वहां उसका परिचय अर्थशास्त्र के प्राध्यापक मधुकर नागपाल से होता है दोनों में नजदीकियां बढ़ती हैं, एक दूसरे से प्रेम करने लगते हैं। मधुकर का बेहद जरूरतमंद सहवास मनीषा को विशेष आकृष्ट करता है। मनीषा जितेन को लेकर सोचती है- 'जिस आदमी को उससे बात करने तक की फुर्सत नहीं है उससे कैसा लगाव? जो रिश्ता रात के अंधेरे में जन्म लेता है और चंद घंटे कायम रहकर दिन के उजाले के साथ खत्म हो जाता है उसे तोड़ने से कैसा संकोच?'

वह जितेन से तलाक लेकर मधुकर से विवाह कर लेती है। विवाह के बाद कुछ दिनों तक मधुकर और मनीषा ने जैसा चाहा वैसा जीवन जिया परंतु एक दिन वह इस वैवाहिक जीवन से भी ऊब गई। वास्तव में मनुष्य जिन परिस्थितियों में जी रहा होता है उससे वह असंतुष्ट रहता है। उसे दूर के ढोल सुहावने लगते हैं। प्रेम जीवन का एक मूल्य जरूर है पर प्रेम ही जीवन का सर्वस्व नहीं है। यह मनीषा ने अपने अनुभव के आधार पर जाना था वास्तव में मनुष्य अनुभवों से गुजर कर बहुत कुछ सीखता है प्रेम स्थायी और निरंतर नहीं, वह चूक जाता है- 'इतना घनत्व प्रेम में नहीं होता कि वह अंतरिक्ष जैसे फैले जीवन के शून्य को सदैव के लिए भर सके कुछ थोड़े से क्षण ऐसे अवश्य आते हैं जब वह इतना फैल जाता है कि उसका ओर-छोर नहीं मिलता पर देखते ही देखते फिर से उलझकर यूं सिमट जाता है कि पता ही नहीं चलता कहां समा गया।'२

जिस तरह प्रेम से जिंदगी का खालीपन नहीं भर सकता वैसे ही एक को छोड़कर दूसरे से शारीरिक संबंध स्थापित करने से भी यह खालीपन दूर होने वाला नहीं अंततः वह इस निर्णय पर पहुंचती है कि जीवन का खालीपन भरने के लिए आत्म सार्थकता की तलाश करनी होगी। मृदुला गर्ग ने चित्तकोबरा की भूमिका में मनीषा के आत्म सार्थकता के संदर्भ में कहा भी है- 'एक को छोड़कर दूसरे के साथ शारीरिक संबंध स्थापित कर लेने से प्रेम का निर्वाह हो, यह जरूरी नहीं भोग लिप्सा शांत हो भी जाए तो आत्म तुष्टि उससे प्राप्त नहीं हो सकती। यह तथ्य मेरे पहले उपन्यास उसके हिस्से की धूप की नायिका मनीषा ने उपन्यास के अंत तक आते-आते ग्रहण कर लिया था।'३

उपन्यास के संदर्भ में एक वक्तव्य में लेखिका कहती हैं- 'उसको यह महसूस तो हुआ उसने जिस आदमी को छोड़ा, जिस इंसान को छोड़ा वह शायद बेहतर इंसान था जिससे शादी की उसके बनिस्बत।'

एक जगह मनीषा मधुकर से कहती है- वह तुमसे बेहतर आदमी था। मधुकर कहता है बेहतर तो वह तुमसे भी है। तुमसे भी बेहतर आदमी था मगर उससे कोई फर्क नहीं पड़ता क्योंकि हमने जो विवाह किया वह इसलिए नहीं किया कि हम बहुत अच्छे लोग हैं। हमने विवाह किया क्योंकि हम प्रेम करते थे। रिश्तों से ऊब चुकी मनीषा अब स्वतंत्र रूप से अपना जीवन निर्वहन करना चाहती थी इस समस्या पर विचार करते हुए अरविंद जैन लिखते हैं- 'स्त्री परिवार या विवाह संस्था से बाहर स्वतंत्र रूप से सम्मानजनक जीवन क्यों नहीं जी सकती?विवाह के अलावा क्या और कोई विकल्प हो ही नहीं सकता?क्या औरत को हमेशा संबंधों और संपत्ति के समीकरणों में ही पहचाना जाएगा उसकी ना कोई अपनी पहचान और ना कोई स्वतंत्र निर्णय इन शर्तों पर मौजूदा परिवार के सड़ते ढांचे को और अधिक लंबे समय तक बचा पाना सर्वथा असंभव ही नहीं, बेहद खतरनाक भी है।'४

मृदुला गर्ग की स्त्री नैतिकता और परंपरा से हटकर अपना स्वच्छंद व्यक्तित्व गढ़ती है। स्त्री चेतना संबंधी विचारों को कठगुलाब, उसके हिस्से की धूप, चित्तकोबरा आदि रचनाओं में देखा जा सकता है। उनके साहित्य में ऐसी स्त्री का बोध होता है जो पति, घर, बच्चों के साथ रहते हुए भी अपना एक अलग व्यक्तित्व रखती है और उसका एहसास भी उसके दिल में है। उनमें अस्तित्व बोध तो है किंतु अपराध बोध नहीं है। मनीषा अपने सोच-विचार, चिंतन और प्रतिभा के कारण अपना-अलग व्यक्तित्व दर्शाती है। मनीषा की सोच में एक नयापन है, जिंदगी को देखने का नया दृष्टिकोण है। अतः लेखिका ने स्त्री को मुक्त कर उसकी नई छवि को प्रस्तुत किया है। मनीषा आत्म सार्थकता की तलाश में इस निर्णय पर पहुंचती है कि मधुकर उसे महत्व दे या न दे वह अपना कार्य करेगी-

'तुम मुझे लेखिका मानो न मानो, मधुकर मुझे कुछ फर्क नहीं पड़ता, उसने मन ही मन कहा, मैं लिखूंगी, अवश्य लिखूंगी और वह, जो मुझे परितोष दे सके। उससे और कोई नतीजा न भी निकले कम से कम मुझे तसल्ली होगी कि जो कुछ मैं कर सकती थी मैंने किया।'५

उक्त कथन उपन्यास का निर्णायक कथन है। जो स्त्री को सिखा गया कि वह भी यह कर सकती है। वह भी पुरुषों के पीछे दौड़ने के बजाय दूसरे पुरुषों के पास जाने के ख्याल को छोड़कर अपने भीतर अपने आप को पा सकती हैं। अपनी अस्मिता की तलाश कर सकती है।

उसके हिस्से की धूप के निर्णायक कथन 'कम से कम मुझे तसल्ली होगी जो कुछ मैं कर सकती थी मैंने किया' से जुड़ी बेहद रोचक संस्मरण है। यह कथन पटना में जेपी आंदोलन के दौरान फणीश्वर नाथ रेणु द्वारा कहा गया था, लेखिका ने इस बात की पुष्टि भी की है कि उक्त कथन रेणु जी से मैंने लिया है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि लेखिका ने जेपी आंदोलन को काफी नजदीक से देखा समझा था। उसके हिस्से की धूप उपन्यास को रविंद्र कालिया ने 2010 (जब वह नया ज्ञानोदय के संपादक थे) में, इसका संक्षिप्तकरण करा के इसको 'बेवफाई' अंक में छापा था। इस उपन्यास को मध्य प्रदेश साहित्य परिषद से महाराजा वीरसिंह अखिल भारतीय पुरस्कार प्राप्त हो चुका है। वर्ष 2011 में दूरदर्शन पर सीरियल के रूप में 'उसके हिस्से की धूप' को फिल्माया गया था जिसके निर्देशक अरुण चड्ढा थे।●

'चितकोबरा' पढ़ते हुए

हिंदी के चर्चित कवि यतीश कुमार ने कई महत्वपूर्ण कृतियों पर कविताएँ लिखी हैं। वे इसे काव्य समीक्षा भी कहते है। एक तरह से उन्होंने एक नई काव्य विधा भी विकसित की है। यहां प्रस्तुत है मृदुला गर्ग के चर्चित उपन्यास पर एक कविता।

यतीश कुमार

1.

कमाल की कविता है स्मृति
जिसकी परिधि में
गुलाब के बचे ओस कण
और पराग भी हैं

जिसने बचाए रखा
तन में मन
और आत्मा में स्पंदन

जिसने ताप को संताप
और प्रेम को अधिकार होने से बचा लिया

2.

ढहती रात उदास स्मृतियाँ हैं
जो इस उलझन में है
कि उदास रात्रि है या यात्री
सड़क है या सफ़र

एक फव्वारा है स्मृतियों का
जिसमें साल में एक बार पानी आता है
और वह पूरे साल भीगे बदन इंतज़ार में
फाड़ती रहती हैं चिंदियाँ

वह इस विडम्बना में मुस्करा देती है
कि समय ज्यादा फलाँगता है
या स्मृतियाँ

नींद की चीख नाभि में बंद है
कराहते हुए चेताती है
कि मंज़िल के बाद का सफ़र
ज्यादा अकेले का है

आज अकेले में
वह खुद से पूछती है
कम्युनिस्ट से क्राइस्ट का सफ़र बेहतर है
या ठीक उससे उल्टा

3.

आँख में चाँद का उतरना
कोख में कुछ सरकने जैसा है

चाँदना जब आया
तो चाँद गुम हो गया
तब से वह चाँदनी को
कोख में ढूँढ रही है

कमबख्त हर रोज़ चाँद के चारों ओर
सफ़ेद बदली
घेरा लगाए दिखता है
नीचे नहीं उतरता

नजर आता है कभी–कभी लहरों की जुंबिश पर
और तब पत्थर की एक अठखेली
उसका सारा वजूद डगमगा देती है
दिल पत्थर का भी होता होगा!

चाँदनी की झीनी चादर ओढ़े
सच पूर्णिमा–सा सामने आता है
और फिर थोड़ी–सी चाँदनी पीते ही
चाँद और चाँदनी दोनों संग गुम हो जाते हैं

4.

जब रोएँ गाते हैं
चेतना आत्मा से बातें करती है

अमृत झरने लगता है बातों में
अमूर्त राग बन जाता है संस्पर्श

उस पल ठहरा क्षण
चाहता है अनंत होना
और चित्र की इच्छा होती है
चलचित्र हो जाना

उस समय प्रेम में इंतज़ार
मीठा शहद बन जाता है
और टप–टप चखे जाना
क्षणों में बनना
या क्षण–क्षण बहे जाना हो जाता है

यह सब मूक देखते हुए
बंद आँखें ज्यादा बड़ी हो जाती हैं

5.

पर्स वाले शीशे में
चाँद कैद होता है चाँदनी नहीं
मन तड़पता है रात नहीं
छातियाँ धड़कती हैं दिल नहीं

दर्द पक जाता है
पर प्रेम की रोटी
एक ही तरफ़ पकी मिलती है

दिन में फुग्गों के साथ खेलना
रात में फुग्गा मारकर रोना
प्रेम को समझने का पहला संकेत है

वजूद टुकड़ों में बचा रहता है
टुकड़ों को बचाना खुद को साबुत रखना है
पर टुकड़ों का पलों में जुड़ना
खुद का गुम हो जाना है

6.

प्यार में अक्सर ऐसा होता है
किसी के बेरोक रोते ही
दूजे का रोना थम जाता है

प्यार में सबसे ख़तरनाक तब होता है
जब कोई रोते हुए मुस्करा दे
तब बात भूलने से बड़ी समस्या
बात नहीं भूलना बन जाती है

जुल्फ़ खुले और यूँ बिखरे
जैसे ज्वालामुखी ढह गया
फूल के रंग सूख कर
सदा शुष्क और पुख्ता हो गए

बहुत लम्बा जूड़ा बांधती रही
न जाने क्या हुआ
पीठ पर इतरा छितरा दिया
ऐसा मैंने अक्सर खुशियों के साथ होते देखा है

7.

वह बनना चाहता है
मैं होना चाहती हूँ

उसको जब भी देखती
धरती भारमुक्त दिखती

उन एक जोड़ी आँखों में
जुड़ने की चाहत छलकती दिखी
और तब मैंने एक आँख से
आशंकित और आशावान दोनों आँखें देखी

सम्मोहन प्रेम में है या खतरे में
यह जान लेना
प्रेम की दूसरी सीढ़ी चढ़ना है

मुझे लगा
दूरी आदम को नश्वर बनाती है
पर जब भी जुड़ती हूँ
तो ईश्वर को और नज़दीक पाती हूँ

8.

मेल वालों से ज्यादा मेल
बे-मेलों का हो रहा है

साथ होने में कल्पना नहीं होती
साथ न होने में होती है
इश्क़ में कल्पना एक छौंक है
पर मुझे सादी दाल पसंद है

प्रेम और दुःख का रिश्ता
नशा और हैंगओवर जैसा है
नशा का पता चलता है
हैंगोवर का नहीं

ढलते वक्त में भी
तस्वीर का मतलब
स्मृतियों की पुनरावृति ही होती है

बिंदी पुंछ जाती है
हरापन ज़िंदा रहता है

चित्र: प्रयाग शुक्ल

9.

समय बहते-बहते
अचानक शून्य पर रुक गया
तब वह हक्का-बक्का ऐसे ताकता रहा
जैसे चसकारा लिए नवजात ताकता है

मैंने उसके लौटने का इंतज़ार
गिलोटिन के गिरने सा किया

मुक्ति आसमान तक ले जाता झूला-सा मिला
और उस एक पल में क्षण
पसरने की इच्छा से तड़पता दिखा

उस पल में कल
आज को छाती से भींचते हुए
तेज़ी से लपकता आया

उस पल मुझे उसे
बेइंतहा प्यार करना चाहिए
और मैं हूँ
कि समय के फांस में निस्तेज पड़ी हूँ

10.

उसने कहा क्या ढूंढ़ते हो
जवाब मिला पूरक
जैसे टहनियाँ ढूँढ़ती हैं फूल
और फूल ढूँढ़ता है पराग

तुम हँसती हो
तो लगता है
प्रपात उद्गम से फूट पड़ा है
और उस झरने का अमृत मेरी चाहना है
जब चूमता हूँ
तो लगता है
होंठ पराग बीन रहे हैं

तृष्णा नदी सी प्यासी है
और तृप्ति झील सी शांत
प्रेम दोनों के बीच का पुल
जबकि पुल का दिल भी नदी के लिए
धड़कता है

11.

सुबह बाहर, शाम भीतर
फूटती है रौशनी
पर जब तुम आती हो
सुबह और शाम का मतलब खत्म हो जाता है

समय के साथ रोशनी के मायने बदल जाते हैं
चाँद अब मेरी छाती पर टिका हुआ है
और मेरा अंतस
रौशनी से भरा हुआ

सुख जब अवर्णनीय हो
तब तृप्ति चमक उठती है
संतोष ललाट पर दमकता है

उस समय
किसी का साथ
ईश्वर का साथ बन जाता है

12.

बिछोह एक पल में
गुड ईवनिंग को गुड नाइट में बदल देता है

रोने से ज्यादा
जब मुस्कुराहट भयानक लगे
तो सलाह है
रो लेना चाहिए

उम्र की चाल 180 डिग्री की होती है
मन 360 डिग्री पर चलता है

न कहना कायरता
और कहना व्यथा मढ़ना
विडम्बना इनके बीच
रात में तेजी से टहलती है

प्यार करना और प्यार पाना
अलग–अलग मसले हैं
प्यार करना खेल
और प्यार होना बेवकूफी

दरअसल पूर्णता प्रेम का सपना है
और सपने कभी हाथ नहीं आते

13.

कभी–कभी आँसू होता है
पर नमी नदारद
खुशी होती है
पर स्मित नदारद

होना अलग बात
और चाहना अलग

होने के बाद चाहना
पी गए चाय की चुस्की

धीरे– धीरे कप ख़ाली
और फिर
तलब के साथ दोनों ग़ायब हो जाते हैं

14.

बिखरी चीजों का अपना सौंदर्य है
बारिश मुझे इसलिए पसंद है
क्योंकि इसकी लड़ियाँ
तुम्हारे बिखरी बालों सी लगती हैं

पहले तुम मुझे बहुत सुंदर लगी
धीरे–धीरे भूलता गया सुंदर लगना
फिर भूल बैठा सुंदरता की परिभाषा
अब बस तुम याद रह गयी हो पूरी की पूरी

चित्र: प्रयाग शुक्ल

दरअसल गर मिकदार होता प्रेम
तो नहीं मापता रह जाता
ताउम्र धरती

15.

भटकन की धुरी पर
घूमती पृथ्वी का
सूरज बनना आसान नहीं
उस ताप से गुजरना आसान नहीं
जिसे बुझाने
पृथ्वी समंदर लिए घूमती है
और चाँद उन दोनों को देख मुस्कुराता है
जबकि तीनों को पता है
कि तीनों के भटकन की
अपनी–अपनी धुरी है
और अपना वृत्त पथ

ढूँढ़ते हुए भटकन की परछाई रोशनी फेंकती है
और ढूँढ़ अपनी यात्रा कायम रखता है

उसने एक बात सच कहा
जब भी भटकोगी
तुम्हारी हँसी तुम्हें बचा लेगी

16.

इंतज़ार एक सुरंग है
जहां घबराहट का भभका मिलता है

उस सुरंग में प्यार ने घबरा कर सच कह डाला
रौशनी से डर लगता है

इसमें साए मिट जाते हैं
और मुझे अंधेरे से प्यार होने लगा

अंधेरे में दिखा
असीम शून्य मुँह बाए खड़े हैं
दुःख का
हद से गुज़र जाने का इंतजार लिए

प्रेम समझाता है
इंतज़ार में कोकून रेशम बनाता है
और कवि कविता
और यह भी
कि इंतज़ार में
आदम ज्यादा पकता है या कविताएँ

17.

इंतज़ार में खत
बरसाती झरनों से कम नहीं लगता

प्रेम में भूरी आँखें
हरी और फिर अंगूरी हो जाती हैं
काली जुल्फें सुनहली
फिर प्याजी हो जाती हैं

मैंने चराग की लौ को
नीला होते हुए देखा
तो लगा
इंतज़ार भी रंग यूँ ही बदलता होगा

दिल ने चुपके से कहा
इंतज़ार में मन
तू जिप्सी बन जा

देखा तो इंतज़ार में
कुछ पेड़ खुद उग आए
और कुछ को मैंने उगाया
इस इंतज़ार में
कि तुम जब भी लौटो
तुम्हें दुनिया की सबसे ठंडी छाँव मिले
और यूँ
अब तक कविता में मैंने पूर्ण विराम नहीं लगाया... ●

यतीश कुमार
जन्म: 21 अगस्त 1976 (मुंगेर, बिहार)
1996 बैच के इंडियन रेलवे सर्विस ऑफ मैकेनिकल इंजीनियर्स (आईआरएसएमई) अधिकारी यतीश कुमार का हाल ही में पहला काव्य-संग्रह 'अन्तस की खुरचन' प्रकाशित हुआ है। वे कोलकत्ता की साहित्यिक संस्था 'नीलाम्बर' के अध्यक्ष हैं जिसके अभिनव प्रयास ने साहित्य के प्रचार में उल्लेखनीय भूमिका निभाई है

तित्तूर की विधवाएँ

–विश्वप्रिया. एल. आयंगर

साहित्य अकेडमी पुरस्कार से सम्मानित अलका सरावगी ने देश की तेरह नामी गिरामी लेखिकाओं की कहानियों का अनुवाद भी किया है। उन्हीं में से एक कहानी का अनुवाद हम यहां दे रहे हैं। कुलभूषण का नाम दर्ज कीजिये उपन्यास से इन दिनों चर्चा में रहने के बाद अलका जी आजकल गांधी जी पर एक उपन्यास लिखने में व्यस्त हैं।

अलका सरावगी

इस भूमि पर कभी ऐसी विधवाएँ थीं जो भूतों को जलावन की लकड़ी से पीटती थीं....

वे ट्रंक में हाथ घुसातीं और बदलाव लानेवाली स्मृतियों के थान खींच निकालतीं। अनारस के कड़े टुकड़े चबाते हुए उसके गीत का एक टुकड़ा गातीं। वे तम्बाकू खाए मुँह को ठंडा करतीं, रस के छींटे मिट्टी के फ़र्श पर गिरते देखतीं और याद करतीं उसकी कहानी; भले ही उनके इधर-उधर भटकते दिमाग़ कहानी के महत्व को न समझ पाते हों। यह सब ऐसा न होता, अगर हलूदी का कोई मंदिर होता जिसमें उसकी मूर्ति होती या कोई शिलालेख होता।

उनका दावा था कि उन्हें वह घटना याद थी जिसे न किसी ने आँखों से देखा था और न किसी ने इसकी ताक़ीद की थी- कि जो सफ़ेद भूत उन दिनों इस धरती पर शासन करते थे, उन्होंने अंधेरी रात में उसे मृत्यु दी थी। सिर्फ़ आग ही उसकी शान थी। ज़िंदगी और मौत के बीच के उस पल में हलूदी ने उन दिनों का गीत गाया था, जब धरती पर आधी रोशनी और आधा अँधेरा होता था। औरत ने रोशनी के नियम को तोड़कर अपने चूल्हे के लिए आग को वश में कर लिया था। उसने इसे प्रकृति से चुरा लिया था।

उस रात तित्तूर में तेज़ हवा थी। उसके गीत को हवा ने चूसकर पत्थरों की साँस में पहुँचा दिया और चमेली के गुच्छों को दलदल में फेंक दिया, जहाँ काले भैंसे मच्छरों से संगत करते थे। चम्पा के फूल घोंसलों में गिरे और उनसे गौरैया के बच्चों के सिर कट गए। ओलों से नवजात बकरियाँ बुखार होकर मर गयीं। प्रकृति भी रात के अभिशाप में शामिल थी।

कई दिनों तक उन्हें इन घटनाओं का महत्व समझ में नहीं आया था।

हलूदी के चार बेटे मरे हुए पैदा हुए थे।

चेचक के दाग़ वाला उसका पति रमण्णा उस साल मर गया था, जिस साल सौराष्ट्र के व्यापारियों ने मवेशियों का बड़ा मेला लगाया था। वहाँ गहनों जैसी खुदाई किए हुए ताम्बे के बर्तन थे, शीशे की कढ़ाई की हुई घाघरा-चोली थी, मोरों के रंग की तीन गज़ की साड़ियाँ, नारंगी के छिलके, काली मोटी कढ़ाइयाँ, पॉलिश किए डांडिये जैसे पतले बेलन थे।

मेले के बाद विधवा हलूदी खिल उठी।

तभी की बात है, रमण्णा के अचानक मरने के दो सप्ताह बाद वह अकेली पहाड़ पर रहने लगी। उसकी साधारण झोपड़ी मिट्टी, लकड़ी और भूसे के छप्पर से बनी थी। इस तरह जंगलियों की तरह रहने से लोगों ने उसकी बहुत बदनामी की।

वहाँ न कोई पति था न बेटा, जो आग न जलाने पर या सुबह पानी न उबालने पर हल्ला करता। बाक़ी लोगों को तो मतलब ही क्या था। हलूदी अब अपने क़ानून ख़ुद बनाती थी।

रोशनी की तेज़ किरणों ने रात को अंधकार के दो बराबर हिस्सों में बाँट दिया। गड़ेरिया अपनी कीट-पतंगों वाली चादर पर लेट गया। तित्तूर की रात को कलक्टर के दफ़्तर से निकलती रोशनी की छड़ें काट रही थीं।

कलक्टर का घोड़ा गीली मिट्टी को खुरों से दबाता रोशनी की चादर से अभी गुज़रा था। वह हमेशा से भी ज्यादा गोरा लग रहा था। उसके होठों पर खून की गंध थी। वह अजीब था जैसे कोई असुर रक्तहीन हो गया हो।

साहब की खाकी कमीज़ फटी हुई थी। उसने हमेशा की तरह वहाँ की भाषा न बोलकर अंग्रेज़ी में मौत सी ठंडी आवाज़ में आदेश दिया था। इसलिए गड़ेरिये को समझ नहीं आया था कि उसने कोई भूत देखा या...शायद यह असुर वापस जंगल में घोड़े पर लौट जाएगा। तब वह उसका चेहरा अच्छी तरह देख लेगा।

गड़ेरिया रातों को काले बालों से भरे कानों के बग़ैर कहानियाँ इकट्ठी करता था और अपनी लम्बी यात्राओं में उन्हें ख़ुद को सुनाता था। अपने फंतासी के साहस में वह सजेधजे अंग्रेज़ सिपाहियों को घड़ों की तरह फूटते देखता। वह अचानक पूरी मुड़ गयी सड़क पर चल रहा था जो एक झूले की तरह थी, पर उसमें सारे पत्थर और काँटे जमे हुए थे। उसका झुंड खो गया था। वह दिखा रहा था कि उसे उनसे छुटकारा मिल गया, लेकिन बात करने के लिए किसी का न होना उसे बुरा लग रहा था। उसे एकांत की कल्पना सुहाती, पर वह जब अकेला होता, इतना बातूनी हो जाता कि सब कुछ चुभने लगता। वह झुका हुआ चलता। अपने डंडे से अनारस की कैक्टस जैसी पत्तियों को पीटता और कहता, "रंडी की औलाद अंग्रेज़ों! मैं तुम्हारे चेहरे के मक्खन से नहीं डरता।" वह सड़क पर लगे दिशा दिखाने के हल्के खम्भों को गिरा देता, जिनसे मूर्ख लोगों को पहाड़ चढ़ने-उतरने में आसानी होती थी।

कलक्टर के दफ़्तर की बत्तियाँ हल्की हो गयी थीं। साम्राज्य अब रोशनी के बिंदुओं पर निर्भर था। जिस कमरे में कलक्टर विलियम बैठता था, उसकी छत इतनी ऊँची थी कि उसमें नारियल के पेड़ पूरे ऊँचे उग जाते। यहाँ जब गोल किए हुए चर्मपत्र के काग़ज़ात खुलते और बंद होते, तो उनमें नए रुपयों जैसी कड़कड़ाहट होती। दिन में माहौल चुप्पी का रहता, साँस का गणित रुक-रुककर चलता, जैसे कि गुस्सा करने से युद्ध ही छिड़ जाएगा। वे लोग दरवाज़ों पर कुत्तों की तरह पहरा देते। क्लर्क, दरबान और चपरासी सफ़ेद भूत के बारे में आपस में चर्चा का शोधपत्र लिखते। साहब की एकांत की माँग को देखते हुए वे अपने अपनी निर्धारित जगहों पर ही रहते।

अंग्रेज़ों का सफ़ेद बंगला ऐसे फैला हुआ था, जैसे मरुभूमि में सुंदर हरियाली का नख़लिस्तान हो। विलियम ने पहले तल की स्टडी की बड़ी खिड़कियों से बाहर देखा। लकड़ी जलाने का धुँआ उठ रहा था।

उसने अपनी पसीजी हुई हथेली में शेर-छाप की सील दबाई और फ़र्श पर नपे क़दमों से टहलता रहा। खिड़की के बग़ल में तुर्की गलीचे पर फ़ाइलों का पेड़ उगा था। वह नहीं चाहता था कि कोई उसे खिड़की के बाहर पहाड़ों की तरफ़ देखता हुआ देखे। वह रात के पहरेदार से स्थानीय ख़बरें लेता ज़रूर था, पर इसका मतलब यह नहीं था कि उसका ध्यान पहरेदार की तरफ़ खिंच जाए।

उसने फ़ाइलों को पंखे की तरह फैला दिया, जो उनके आपस में जुड़े रहने का प्रतीक था। सिविल सर्विस के मुद्दे फैल गए, सेना के मुद्दे ऊँचे ढेर में रहे। किंतु ब्रिटिश राज को बाँधनेवाले नाज़ुक धागों को साफ़ अलग करना उसे शांति नहीं दे रहा था। पंखा अधिक कामुकता लिए था, उससे एक कामुक मालिक को समर्पित युवतियों की छवि बनती थी। इससे अपराध-बोध और बंदी बनाने की बात गुम हो जाती थी। शायद उसे सुदूर पूरब जाना चाहिए था, जैसे कि चीन में। यहाँ माहौल दूसरा था।

पहरेदार सो रहा था। कलक्टर विलियम ओलों को अकेले गिरते देखने के मौक़े से ख़ुश था। वह ख़ुश था कि आधी रात के तूफ़ान को वह एक मनुष्य की अस्पष्ट आवाज़ की तरह सुन रहा था।

तित्तूर दक्षिण के पठार पर एक छोटा सा गाँव है। यह तीन चोटियों वाली 'मुतण्णा बौनी पहाड़ी' के पास है। गांधीटोपी की पहाड़ी में चंदन और कटहल के जंगल हैं। पूर्वी मैदान में कलक्टर का दफ़्तर, पुलिस थाना, दवाखाना, खेत और घर हैं। पश्चिम की तरफ़ भव्य आकृतियों वाले विराट पत्थर हैं। इसी बंजर विशाल भूमि में विधवाओं ने अपनी रीतिरिवाजों की दुनिया बसाई है। एक खोदी हुई गुफ़ा में- जो आधी गुफ़ा और आधा मक़बरा है, एक सपाट सफ़ेद पत्थर है जिस पर चार रेखाएँ खुदी हैं।

विधवाओं का यह मानना था कि हुलीअम्मा देवी ने अपने पंजों से उस पत्थर पर रेखाएं खींची हैं। वे उस पर जंगली फूलों की मालाएँ चढ़ातीं, जड़ी-बूटियाँ चढ़ातीं और ऐसा कोई भी जानवर या प्राणी जिसका वे शिकार कर पाती थीं। जब पहाड़ियों को हवाएँ घिसतीं, वे जंगली घास की मालाएँ बनातीं और सफ़ेद पत्थर को साँप या मेंढक के ख़ून से रंग देतीं। वे चमड़े सुखातीं और रंगीन धागों और बीज के मोती लगाकर उसके बटुए सीलतीं। हुलीअम्मा उनकी अपनी बनाई हुई देवी थी। विधवाएँ कभी देवी से न डरतीं और न किसी तरह का नाटक करतीं। वे सिर्फ़ देवी से यही प्रार्थना करतीं कि उनमें जो ताक़त मौजूद थी, उसे वह बनाए रखे।

धूप ग्रैनाइट को चमका रही थी। नूँगन्ना की विधवा तीर्तम्मा को उनकी बिरादरी में शामिल करना था। गिगीयक्का ने उसके पतले घुंघराले बाल बनाए। वह लम्बे लकड़ी के कंघे को पूरा नीचे तक लाती और उसके दाँतों को अपने अंगूठे और तर्जनी से दबाती। लकड़ी के टुकड़ों के करारेपन को महसूस कर वह हँसती। जैसे ही तीर्तम्मा के गोल कंधों पर कोई भटकी हुई जूँ चलती दिखाई दी, अंगुलियों ने उत्तेजित होकर उसे झपट लिया और अंगूठे के नाखून से उसे मार डाला। चूना-पत्थर की जंग पर ख़ून का रंग चढ़ गया।

विधवाओं का यह मानना था कि हुलीअम्मा देवी ने अपने पंजों से उस पत्थर पर रेखाएं खींची हैं। वे उस पर जंगली फूलों की मालाएँ चढ़ातीं, जड़ी-बूटियाँ चढ़ातीं और ऐसा कोई भी जानवर या प्राणी जिसका वे शिकार कर पाती थीं। जब पहाड़ियों को हवाएँ घिसतीं, वे जंगली घास की मालाएँ बनातीं।

नेलम्मा चट्टान के गरम भाग पर बैठी थी। उसकी भीगी साड़ी में एक गीली पोटली में फूल और पत्ते थे। वह उनकी लम्बी माला गूँथ रही थी। फिर वह उन्हें तम्बाकू के पत्ते में बाँधकर तालाब में तैरा देगी। तीर्तम्मा सुंदर नहीं थी। यदि वह होती, तो नेलम्मा और दूर जाकर एक कमल का फूल काट लाती। बालों के लिए नहीं क्योंकि कमल भारी होता है, देवी को चढ़ाने के लिए। हलूदी उससे बलि के पशु को सज़ा लेती। नेलम्मा ने उबासी ली। वह तालाब पर जाएगी। चंदन की सुगंधित छाया में सोएगी। उसने गिगीयक्का को मुसी हुई पंखुड़िया दीं।

तीर्तम्मा अधेड़ थी। उसने छह बच्चों को पैदा किया था और वह दादी भी बन चुकी थी। उसका शरीर औरतपन के चक्र को पूरा कर झुक गया था। वह जलती धूप में खेतों में मज़दूरी करती थी। अब वह विधवा थी और बिरादरी में आनेवाली थी। तीर्तम्मा भाग्यशाली थी। अब वह अपनी मेहनत के रेगिस्तान में अनाम नहीं मरेगी। आज रात वह अपनी आत्मा को बोलने देगी।

दीक्षा के पहले उसके शरीर पर मलहम लगेगा। हड्डीनुमा हाथों ने उसके माथे पर पंखुड़ियों के ठंडे रस को बालों की जड़ में डालते हुए मालिश की। गौरैया के गर्भ को कच्चे पपीते में मिलाकर पीसा गया था। उन्होंने उसे तीर्तम्मा के पैरों तले लगाकर बाँध दिया। अब उसके घिसे हुए तलवे घास और बालू को महसूस कर सकेंगे।

रात होने के बाद समारोह होगा। हलूदी अनुष्ठान का संचालन करेगी।

"मैदान में घर क्यों बनाएँ?इतनी दूर लकड़ी ढोनी पड़ती है। मेरा घर जंगल में होगा।"

हलूदी पहाड़ी पर रहती। उसे एकांत में आनंद था। शेरनी गुफ़ाओं में बच्चे पैदा करती है और हलूदी के गीत पहाड़ी पर पैदा हुए।

हलूदी एक ज़मींदार ब्राह्मण के घर नहलाने वाली नौकरानी थी। भोर में वह जलावन की लकड़ी इकट्ठी करती और चल पड़ती। अपनी साड़ी की तहों में जड़ीबूटी का गुच्छा खोंस लेती। पहाड़ी से उतरते नीम का दातुन चबाती। कसैले थूक और नींद की ख़ुमारी के बीच वह एक गीत गुनगुनाती।

गायों की बाड़ के पीछे वह पत्थर की सिल पर जड़ी-बूटियों को पीसती। फिर कुएँ से कांसे के घड़े में तीस बार पानी भरकर एक बहुत बड़े मिट्टी के चूल्हे पर रखती। चूल्हे में लकड़ी के लट्ठे और गोबर के उपले भरकर आग जलाती और फिर पाइप से तेज़ फूँक मारकर आग को फैलाती। लोहे की पाइप में फूँकने की आवाज़ ऐसे गूंजती जैसे बालू पर हवा गूंजती है।

वह कैस्टर तेल से बच्चों और औरतों की मालिश करती। दुखते हुए हाथ-पैरों पर उसके हाथ शहद की तरह फिसलते और दादियों के झूलते हुए मांस भी तन जाते। वह सबको एक-एक करके नहलाती। बच्चों की पूरी बंदरों की सेना थी। उन्हें वह चार-चार करके नहलाती। उसके बाद कोयले जलाती और गुग्गल के टुकड़ों का छिड़काव करके उसके ऊपर एक टोकरी रख देती। उसके बाद पुरानी नरम साड़ियों में लिपटी हुई औरतों के बालों को उस सुगंधित धुएं के ऊपर फैला देती। वे जैसे नशे में आधी आंखें बंद करके रखतीं और परिवार के बारे में बातचीत करतीं।

कभी-कभी जब वह बच्चों को नहला रही होती, ज़मींदार अंजैय्या स्नानघर का दरवाज़ा खोल झाँकता। वह चिढ़कर कहती- 'जाओ दुष्ट बकरे! नहीं तो तुम्हारे बच्चे के ऊपर एक लोटा पानी भी नहीं डालूँगी।'

ब्राह्मण लोग हमेशा इस बात से भयभीत रहते कि उनके बच्चों को सर्दी लग जाएगी। बूढ़ा ज़मींदार भगवान से कहता कि काश उसने हलूदी के दिमाग़ में इतना तीखा मसाला न डाला होता। वह दरवाज़ा बंद करके चला जाता।

जिस काम से हलूदी का जीवन चलता था, यही था। जंगल से खाना मिल जाता था किन्तु गुड़, तेल और कपड़ों की ज़रूरत पूरी नहीं होती थी। ब्राह्मणों की औरतें उससे उस तरह बातचीत नहीं करती थीं जैसे वे दूसरी नौकरानियों के साथ करती थीं। वे उसको किसी तरह की अफ़वाहों के टुकड़े नहीं फेंकती थीं। वे उससे डरती थीं और उसके बारे में जानने को उत्सुक थीं। अगर उसके हाथों में यह जादू नहीं रहता, तो वे कभी उसे उससे काम नहीं करवातीं। उसके आसपास रहने से उन्हें अजीब सी विरक्ति होती। उन्हें डर लगता।

हलूदी ज़मींदार और उसके परिवार की काफ़ी नक़ल उतारती। बहुत सी शामें उसकी कहानियों के नशे में गुज़र जातीं। सबको हँसाने की क्षमता इस विधवा की एक बड़ी खासियत थी।

धोल के एक ढेर में अपने पांवों को तपाती तीर्तम्मा ताड़ की एक पत्ती पर बैठ गई थी।

अचरज से जमे होंठ स्वरों के तालाब में पिघल गए। एक हिरन छलांग लगाते हुए पेड़ों के खंभों के

पार दौड़ गया। तेल में डूबी अंगुलियां हथेलियों पर चलने लगीं। रोशनी के खुर चमके। अचानक आयी बारिश की तरह तित्तूर के मंदिर की घंटी धीमे से बज उठी।

जंगली चमेली सितारों को हवा से गूँध दो।

मेरे लहराते बालों पर सज जाओ।

सूरज तुम्हारे अस्त होने के खून को मेरे माथे पर लिख दो।

मेरी चंदा माँ, मैं ज़रूर तैरूँगी...

बिना हवा की सुबह ने हलूदी की दीक्षा के गीत को हुलीअम्मा की गुफा के पास बैठी औरतों तक पहुँचा दिया। उनकी थकान ख़त्म हो गई। वे अचानक हुई रौशनी से चकाचौंध होकर उठीं और उनकी हँसी गीत के बोलों की सिलवट मिटाती गई।

नदी में तुम्हारी रूपहली किरणों के साथ तैरूँगी मैं, चंदा।

चीनी के टुकड़े खाऊँगी और खजूर की ताड़ी पियूँगी।

क्योंकि आज मैं अपनी दुल्हन हूँ।

तीर्तम्मा से उन्हें खुशी मिल रही थी। जब कोई नौसिखिया उनके गुट में शामिल होती, तब न उसे पता होता न विधवाओं को कि वह आगे क्या बनेगी। पूरा समूह इस बात पर ज़ोर देता कि वह अपने सच का पता करे, जैसे बीज को उसके तेल का और चट्टान को उसकी धातु का पता होता है। कटहल से भरे दूर फैले जंगल पर निगाहें टिकाए, उसे देखती विधवाओं से बेपरवाह, तीर्तम्मा गाती रही।

वे अपनी महान पुजारिन हलूदी को नमस्कार करतीं। हलूदी ने कहा था, 'जितनी ज्यादा उम्र होगी, पूजा उतनी ही बड़ी होगी। बहुत गहरे अंधेरे से आत्मा को ऊपर उठना होगा। यह ज़रूरी है, क्योंकि बरसों का दर्द नृत्य को और लचीला बना देगा।'

अगर हलूदी को पता चल जाए कि नेलम्मा ने कमल के फूल के बारे में सोचा था, परंतु तेल के लिए सिर्फ मुसी हुई पंखुड़ियां ही दीं, तो वह उसे डांटेगी और वापस पहाड़ियों में भेज देगी। नेलम्मा को अनुष्ठान पसंद था। इससे उसे सांत्वना मिलती थी परंतु उसमें हलूदी जैसी शारीरिक शक्ति नहीं थी। वह अपराध-बोध के गोल-गोल धागे से खेलती रही और उसने कमल के फूल को अपने दिमाग़ से निकाल दिया।

तीर्तम्मा ने हलूदी का वह शुरुआती गीत गाया-

अंधकार, दर्द की देवी,

नहीं जानती शरीर औरत या मर्द का।

वह खोजती है रात का सीना,

आत्मा के लिए।

वह सोता है मैं जागी हूँ

पीछा करती हूँ कटहल के जंगल तक।

भद्दे पाँव,

सियार के रोने की ताल पर नाचते हैं

उस रस्सी को गूँथते जो मुझे पीटती है।

रात का सीना, देवी, मेरे सच को मुझे बताओ।

अचानक बजने लगे संगीत से, उस सुगंध से जो उसके सिर को जला रही थी, तीर्तम्मा डर कर खड़ी

तीर्तम्मा उस बिना दाँत वाली औरत के प्रति अपना गहरा आकर्षण स्वीकार कर रही थी। उसकी भावनाएँ चिंता भरे तनाव में बह रही थीं। वह न जंगल की धरती को समझ रही थी न मौसम को। बस वह गहरी सतर्कता के साथ उसके पीछे चुपचाप चल रही थी। वे एक पेड़ के नीचे बैठ गईं।

हो गई। उसने अपने पाँव के जमे हुए घोल को तोड़ा और दौड़ने लग गई। भारी भूरे टखने उसे उड़ाते हुए जंगल में ले गए।

विधवाएँ देखती रहीं। वे सब समझ रही थीं क्योंकि ऐसी ही किसी दोपहर या रात को उन्हें अपने अंदर की शक्ति से इसी तरह डर लगा था। वे पहाड़ी के पश्चिम में चुपचाप चलती रहीं।

जमींदार अंजैया ने स्नानघर के दरवाज़े को कई बार खोला और बंद किया, किंतु वहाँ से उठती भाप से उसका चश्मा धुँधला नहीं हुआ। कल की जड़ी-बूटियों की हल्की सी गंध अब भी नालियों से उठ रही थी। एक टूटी हुई टाली में से सूरज की किरणें काँसे की कढ़ाई पर चमक रही थीं। पत्थर का ठंडा फ़र्श जो तेल और पानी से चिकना था, उसे सता रहा था। कमरे में लंबे हाथ-पाँव वाली औरत के भीगे स्तनों की छाया थी। आज मिट्टी का बड़ा चूल्हा जलाया नहीं गया था, कांसे वाले से काम चलाया गया था।

ज़मींदार ने अपना पूरा छप्पनभोग खाया और पेट को हल्का करते डकार ली। कमरे में गर्भ की तरह शांति और अंधकार था। खिड़कियाँ बंद थीं। वह अपनी पत्नी के बगल में चटाई पर लेट गया और उसके नरम, ढीले पड़े हुए पेट को सहलाया। उसमें हलूदी की खुशबू नहीं आ रही थी। उसने पूछा कि आज उसके बालों से गुग्गल की खुशबू क्यों नहीं आ रही?

'वह काम करने नहीं आयी। पता नहीं पहाड़ी पर अपनी झोपड़ी में किसकी सेवा करती है! उसने मुझे बताया कि एक रात एक हिरन आया और उसके पैर चाटने लगा। उसकी गीली नाक के कारण उसने सोचा कि साँप है। पिथूर से कोई विद्रोही भी उससे मिलने आता है। लोग कहते हैं कि वह देखने में सुंदर है। लेकिन फिर भी उसे मुझे बताना चाहिए था कि वह नहीं आएगी। आज पूरे घर ने कौवों की तरह चम्मच भर पानी से स्नान किया है।'

अंजय्या को अपनी पत्नी अजीब लगती थी। वह धर्मावरम सिल्क की साड़ियां पहनती, जिनमें भारी सुनहरी किनारी होती। परंतु उसके ब्लाउज़ में घिसी हुई डोरियां लगी रहती थीं।

'आज बच्चों को स्नान नहीं करवाया गया। बिना तेल-बूटी के कोई स्नान होता है?गर्म पानी से नहाये, फिर भी ठण्ड लगती रही।'

अंजय्या ने अपने पिछले दाँतों में फँसा सुपारी का टुकड़ा निकाला।

'पूरी सुबह बीस भांड निम्बू-मिर्च का अचार बनाते-बनाते मेरी कमर टूट गई।कम से कम एक अच्छा स्नान मुझे राहत देता।'

अंजय्या सोचता था कि इतने साल बाद कम-से-कम वह इतना तो कर सकता है कि अपनी पत्नी की बात सुनता रहे। इसके अलावा हलूदी का नाम सुनने से वह उत्तेजित हो जाता था। दोपहर के ऊनींदे समय में उन्होंने संभोग किया।

सोई हुई दोपहर में उसका काम रोज़ की तरह चल रहा था। विलियम ने बाज़ के पंख वाली कलम को इंडिया इंक के ढेर सारे कागज़ों पर घसीटा। घटनाओं की जटिलता को तर्क के साफ़-साफ़ खानों में बैठाया। एक ऐसी जाति पर राज करने में बहुत चतुराई की ज़रूरत थी, जो महान सभ्यता का दावा करती थी; जहाँ जंगलीपन तरह-तरह के रीतिरिवाज़ों की बारीकियों के अंदर छिपा रहता था। दोपहर की सुस्त गर्मी में अपराध-बोध कम होकर अफ़सोस में बदल गया। पहाड़ी पर आग काफ़ी देर पहले ठंडी हो गई थी और बिना जले हुए लट्ठे चारों तरफ़ पड़े थे।

नियमों की परवाह न कर, वह कभी-कभी अपने एल्सेशियन कुत्तों को रात में पहाड़ियों पर ले जाता। तब हलूदी की आकृति उसने पेड़ों के बीच देखी थी। पिछली बार उसने बात की थी क्योंकि वह कुत्तों के साथ था। स्थानीय सौंदर्य विलियम को लुभाता नहीं था। जिस क्षण वह बोली, शब्द जम गए थे, जैसे की बर्फ़ के टुकड़ों का जलतरंग हो।

पहरेदार ने पिथूर के विद्रोही नेता वीरप्पा के साथ उसके संबंधों के बारे में एक विस्तृत रिपोर्ट दी थी। वह हमेशा रात में एक भूरे घोड़े पर आता और भोर तक रहता। तब सारी रात उसके दिए का तेल जलता। पतली दीवारों से उनकी आवाज़ें पेड़ पर चिड़ियों की बोली की तरह सुनाई पड़तीं। वे लोग विधवाओं के बारे में, ज़मींदार और उसके परिवार के बारे में, कलक्टर के दफ़्तर के क्लर्क और चपरासियों के बारे में बातें करते। वे एकांत के बारे में, अकेलेपन के बारे में, कविता और न्याय के बारे में लंबे लंबे वाक्य बोलते। वीरप्पा को छायाएं और दानव दूर से दिखाई पड़ते। भोर में अपने घोड़े पर चढ़ने की पहले वह विद्रोही नेता हलूदी के पैर छूता। वीरप्पा हर दूसरी पूर्णिमा पर आता था।

पहरेदार इस बात पर पूरा ज़ोर देता कि उन दोनों के बीच शारीरिक संबंध नहीं थे। वे बात करने की बेचैनी में शरीर को भूल जाते थे। इसका मतलब यही निकलता था कि हलूदी राजनीतिक षडयंत्र में शामिल थी, विलियम ने सोचा। वह रिश्तों में शरीर से

परहेज़ की बात को लेकर भ्रमित था। विधवाओं की समिति से पंगा लेने पर वह विवश था। उसे इस तरह के अजीब संप्रदाय पसंद नहीं थे।

पहरेदार बकता चला गया था। हलूदी ने कहा था, कलक्टर एक भुट्टा है। उसके बाल भुट्टे के बाल जैसे हैं। इस बात पर वह विद्रोही दिल खोलकर हँसा था। विधवाओं में से एक का पति रात का पहरेदार रहा था। विधवा ने अपनी दीक्षा के समय उनसे ली जानेवाली सूचनाओं के कार्यक्रम के बारे में बताया था। उसमें कई तरह की बकवास थी, कि कैसे भूत अपने ही लोगों की आंखें ख़रीद लेते हैं, कैसे दिल के प्रति लोग अंधे हो जाते हैं, कैसे बच्चों की कमजोरियों पर जासूसी करते हैं।

जब उसने उसके कुत्तों को प्रशंसा की नज़र से देखा और फिर उसकी तरफ़ देखा जैसे कि वह कोई रंगहीन गाजर हो, उसे बहुत अपमान महसूस हुआ था।उसने सीधे-सीधे उससे विधवाओं की समिति के बारे में पूछा और यह भी, कि क्या वह इस अनुष्ठान को जारी रखनेवाली थी जिसमें पतियों की मृत्यु का उत्सव मनाया जाता था?

हलूदी ने अपनी निजी बातों में उसकी दखलंदाजी करने की क्षमता का उपहास किया था। जैसे किसी सम्मोहन में वह किसी नारे की तरह बोली थी, 'मैं एक विधवा हूँ और यह मेरी शक्ति है।'

जब उसने उसे कहा कि उसे इस बात को खोलकर बताना होगा, तो उसने अपना मुँह सिल लिया था और उसका मौन तीन चोटियों वाली पहाड़ियों के अँधेरे मोड़ों में घुस गया था। विलियम ने उसे आदेश दिया था कि उसे अपनी समिति को तोड़ना होगा और पिथूर से कोई संबंध नहीं रखना होगा। तब उसे कोई नुक़सान नहीं पहुंचाया जाएगा।

हलूदी हँसी थी, 'कलक्टर साहब, आपके दिमाग़ को, जो अंग्रेज़ी आकाश में फीका पड़ गया है, क्या हमारे आम विचित्र नहीं लगते?'

विद्रोहियों का आम से क्या संबंध था? लौटते समय विलियम को सोता हुआ गडेरिया मिला था। उसके कुत्तों ने काई को सूँघा था और उससे धोंधे निकाल लिए थे। विलियम के ऊपर एक विध्वंसक व्यर्थता-बोध छा गया था। उसने अपने दिमाग़ के पन्ने पलटे थे ताकि वह अपनी उदासीनता की समझ सके।

वह दफ़्तर लौटा, तो जिले में छोटी-मोटी पर शर्मनाक विद्रोह की ख़बरें उसका इंतज़ार कर रही थीं। हरकारे का सफ़ेद चेहरा, उसका कैशौर्य, उसकी स्थिर नीली आँखों ने विलियम में भूली हुई आत्मीयता जगा दी। उसने लड़के को चाय पिलायी और उसका उत्साह भरा यात्रा का विवरण सुना। उसकी मासूम स्पष्टवादिता से विलियम के अंदर अपनी पूरी जाति को सुरक्षा देने की ज़रूरत का तीव्र अहसास जाग उठा।

घोड़े की टाप जैसे दूर गयीं, विलियम ने अपनी मोरोक्को के चमड़े की कुर्सी के गर्भ में धंसकर ख़बरों की चिट्ठियों को गम्भीर चिंता के साथ पढ़ा। सारी रात आग चटकती हुई उसकी फ़र वाली चप्पलों में पैरों की अंगुलियों को गरम करती रही। रातें ठंडी और

वह दफ़्तर लौटा, तो जिले में छोटी-मोटी पर शर्मनाक विद्रोह की ख़बरें उसका इंतज़ार कर रही थीं। हरकारे का सफ़ेद चेहरा, उसका कैशौर्य, उसकी स्थिर नीली आँखों ने विलियम में भूली हुई आत्मीयता जगा दी। उसने लड़के को चाय पिलायी और उसका उत्साह भरा यात्रा का विवरण सुना।

तूफ़ानी होती थीं।

दिन गरम होते। हवा का नाम न था। पंखा झलनेवाला पान खा रहा था। वह उसे कहेगा कि मछलियों के तालाब में न थूके। हालाँकि बंदे को अंग्रेज़ी नहीं आती थी, विलियम को उससे डर लगता, जैसे कि वह परदे के पीछे से किसी बेतुके नाटक का निर्देशक हो।

... तित्तूर की विधवाओं के पैशाचिक अनुष्ठान पुराने ज़माने की हमारी चुड़ैलों से अलग नहीं हैं ...ये यहाँ के ज़मींदार-किसानों की धार्मिक रीतियों के भी खिलाफ हैं। हिंदू धर्म में हर शादी से पहले एक ऐसी सुहागिन की पूजा की जाती है, जो अपने पति से पहले मर गयी हो। उसकी आत्मा के सम्मान में उसका प्रिय भोजन पकाया जाता है और एक बुज़ुर्ग सुहागिन महिला को सिल्क की साड़ी और अन्य उपहार दिए जाते हैं।

कलक्टर विलियम ने पिछली सूचना को बेकार मानते हुए उसे काटकर लिखा,

मुझे इसमें कोई शक नहीं है कि इन विधवाओं के खिलाफ़ किसी भी तरह का सरकारी या अन्य क़दम उठाने से यहाँ के लोगों को ज़रा सी भी कोई आपत्ति होगी।

काबुल की अनार का रस तित्तूर के किसान के तम्बाकू के थूक से मिला हो, सूर्य कभी वैसे अस्त होता है।

विधवाओं ने सब्ज़ी के झोल को हल्की आवाज़ से चाटकर शाम का भोजन ख़त्म किया। फिर वे अभ्यास की हुई गति से अपने घरों से एक नदी की धार की तरह निकल पड़ीं। नृत्य करनेवालियाँ प्रतीक्षा में थीं। रंग मिट्टी की खिड़कियों से निकल धब्बों में गिरते रहे।

उन्होंने अधीरता से अपने चूल्हों की आग पर पानी डाला था और रात होने पर हुलीअम्मा की तरफ़ चल पड़ीं। वे अभी तक न जाने हुए को जानने की आशा कर रही थीं, जैसे किसी दूर के शहर से कठपुतलियों का नाच आया हो, जिसके देवता और दानव अलग क़िस्म के हों।

विधवाएँ एक गोल घेरे में बैठ गयीं। उनके होंठों को अस्पष्ट, नींद तोड़नेवाले ख़याल मुलायम बना रहे थे।

'कोई प्रार्थना नहीं, सिर्फ़ अपनी आवाज़ में अपनी बातें कहनी हैं, अपनी ताल को खोजना है। अपनी शांति की भाषा को पाना है।' विधवाएँ उसे देख रही थीं। वे अनिश्चय में थीं, पर विश्वास से भरी थीं। हलूदी ने रहस्य की तरह कहा, 'मिट्टी दूर के प्रदेशों की तरह कुम्हार के पैरों में चमकती है। कुम्हार मिट्टी के नाचने की प्रतीक्षा करता है।'

कभी समय था जब पत्थर के शब्द प्राचीन ज्वालामुखियों से निकले थे। उसका चेहरा मंदिर के हज़ारों दीयों से जगमगा उठा। यह धूपबत्ती और गुलाब पंखुड़ियों की मुस्कान थी।

हुलीअम्मा की सूखी हुई स्वर्ण गुफा एक ख़ाली पलक की तरह धाराप्रवाह रो रही थी। ये चूने के स्तम्भ समय ने बनाए थे, इनमें आँसू नहीं थे। इनमें मिथक की धड़कन और सपनों की मिश्रित धारणाएँ थीं। ये क्षितिज तक फैले हुए भविष्य के गुंबद थे।

तीर्तम्मा और उसकी सहायक पत्थरों पर बैठी थीं। आवाज़ें रात की लोहे के सन्नाटे में खो गयीं। दोनों औरतों ने संगीत से एक दूसरे से बात की। शुरू में वे शेरनी के बच्चों की तरह धीमे बोल रहीं थीं। शब्दों, आवाज़ों और मुद्राओं से वे एक तालाब की नमी परख रही थीं। वे उम्मीद की कोमलता खोजती औरतें थीं।

उन्होंने एक परिवार की रस्म के तौर पर औरतपन की पड़ताल की। एक लड़की का जन्म जिससे किसी को खुशी नहीं हुई। हिरन की खाल से बनी छोटी ढोलकी पर गिगीयम्मा ने नींद में चलनेवाली अंगुलियों की थाप दी। उस बूढ़ी औरत ने यौवन और बुढ़ापे, डर और शांति को अपनी दो अंगुलियों पर संतुलित कर रखा था। तीर्तम्मा ने बचपन का अभिनय किया।

किशोरावस्था, बच्चे को जन्म देना मातृत्व, बुढ़ापा। घेरे में बैठी औरतों ने हर क्षण उन पर होने वाली हिंसा का दुःख मनाया। कैसे आश्चर्य की हत्या की गयी, जवानी की ऊर्जा के हाथ-पाँव कैसे काट गये, वे हर मृत्यु पर कराहती रहीं। हर आकृति जैसी दुख से गढ़ी थी। एक बच्चे के चेहरे पर चेचक के लाल-लाल छोटे बेर उगे हुए। शराब पीती दीवारों की लापरवाही से बच्चे को जन्म देते समय योनि खोलने का उपचार न मिलना।

विधवाओं के शब्दों को दोहराना जैसे दुःख के शव की चीर-फाड़ करना था।

दोनों औरतों के रुकते ही पूरा घेरा मंत्र की तरह बोलने लगा- 'शाप ख़त्म हो जाएगा और तीर्तम्मा हमारे पंथ में जाग जाएगी।'

मंच पर आदि अभिनेता थे। वे अकथनीय का अभिनय कर रहे थे। एक अपूर्व स्थिति का मसाला शब्दों में कूटा जा रहा था। उन्होंने अकेलेपन की बात की, उन्होंने स्मृतिविभ्रम की बात की जिसमें एक वयस्क व्यक्ति की धारणा ही पागलपन का कारण होती

थी। उन्होंने अलौकिक उम्मीद की बात की। कमल के फूल उगाते दलदलों में तैरते नष्ट भ्रूणों की बात की।

तीर्तम्मा अपने नाटक के स्रोत की तरफ़ चली गई। वह धरती के गर्भ से उठकर बोली- 'मैं चट्टान नहीं हूँ। मैं एक घाव हूँ।'

पत्थरों ने अभ्रक के छेदों से रोशनी को सोख लिया था। वे ऐसे खड़े थे जैसे खुद समय के गवाह हों। तीर्तम्मा की आँखों ने गिगीयक्का के चेहरे की नम लकड़ी को तोड़ते हुए, पहाड़ियों के पार, रात के हरे केशों के पार देखते हुए कहा- 'घाव नहीं, इन्सान..'

हलूदी अभी तक नहीं आयी थी। विधवाएँ उसे याद कर रही थीं, पर उससे ज्यादा तूफ़ानी रात में भूने जाते मांस के बारे में सोच रही थीं। शायद वह जंगल में किसी भालू का पीछा कर रही हो।

तीर्तम्मा खड़ी हो गई। उसकी बैंगनी-काली साड़ी ने उसके फैलाव को बाँध रखा था। उसकी गहरी काली बाहें लकड़ी और पीतल की चूड़ियों को खड़का रही थी- 'मैं आग थी, धरती थी, पानी थी। मैं मेहनत थी, फल थी...ग्रहण अब बीत चुका है।'

यदि सुबह गहरी होती है, तो रात ने अपनी चमक से उसे पीछे छोड़ दिया था। चेहरे तनावमुक्त हो गए। घेरा टूट गया और औरतें लड़ाइयों के बीच हँसने लगीं, चीनी के टुकड़े खाने लगीं और खजूर की शराब पीने लगीं।

गिगीयक्का ने शराब के नशे में तीर्तम्मा को गले लगा लिया और उसे बालों की जूँ के लिए चिढ़ाने लगी। नई विधवा ने जवाब दिया-"जितने लोग मेरा खून चूसते हैं, उनमें जूँ मुझे सबसे कम तक़लीफ देती है।"

गिगीयक्का हँसते हँसते गिर गई। उसकी गीली गरम हँसी उसके चेहरे की आड़ी-टेढ़ी रेखाओं से टपक रही थी- 'तुम लोगों की जीभ पर खट्टे दही के बुलबुले हैं।'

कुछ देर बाद मेहनत करने वाली मजदूरनियों की चिंता से एक सन्नाटा पैदा हुआ। बालू ठंडी थी और उसमें चंदन, जड़ीबूटियों और उपजाऊ मिट्टी की खुशबू थी। शाम का कार्यक्रम पूरा हो चुका था और अब वे मौज में थीं।

हलूदी शिकारी थी। वह किसी भी पशु या बड़े पक्षी को मार सकती थी। जिस दिन से उसने रजस्वला होना शुरू किया, उसी दिन से वह नदी में मछली पकड़ने लगी थी। वह जितनी अपने भाले के साथ लचीली और दक्ष थी, उतनी ही वह मछलियों के जाल के साथ थी। वह आग्रह करती कि दीक्षा के लिए उनलोगों को कुछ मोटा-ताज़ा खून से भरा हुआ खाना चाहिए। किन्तु हलूदी को कभी इतनी देर नहीं होती थी। शायद आज उसने अपने को ही हराने का निश्चय किया था।

वे जंगल के मुँह की तरफ़ देखती रहीं। चाँदनी की बारिश में मज़बूत मांसपेशियों वाली जाँघें जंगल में चुनाव करती हुई, पीछा करती हुई घूम रही होंगी।

हलूदी का आगमन हमेशा ही एक विजय के उल्लास के साथ होता। उसकी साड़ी पेड़ से ताड़ी उतारने वालों की तरह ऊपर मुड़ी रहती। उसकी

जंगली बत्तख शिकारिनों को अपने घर तक ले गई। उसने अपने साथी, जो उस से रंग में फीका था, के सामने अपने पंख फैलाए और अपने मुकुट को हिलाया। गिगीयक्का ने भाला फेंका। तीर्तम्मा ने मरी हुई चिड़िया को उठाया और उसके सुंदर पंखों को सहलाया। फिर वह उसके पंख नोच-नोचकर चाँदनी से रोशन उस रास्ते पर, जिस पर टहनियों की छाया पड़ रही थी, धीरे-धीरे फेंकती गई।

कोहनियां खून और गीली मिट्टी से रंगी रहतीं। उसके चेहरे को ज़िंदगी के वजन ने तराश दिया था। वह कंबल की तरह शिकार के हिरन को अपने कंधे पर डाले हुए आती। उसका चेहरा पत्थर की तरह होता और उसके कंधे पर खत्म हो गयी ऊर्जा पड़ी रहती। ऐसा लगता कि दोनों में एक समझौता हो और मृत्यु ने इस समझौते पर मुहर लगा दी हो। ज़िंदगी अपने ऊपर ही विचार करती। उसके बाएँ हाथ का अंगूठा मोर के गले में लिपटा होता और मोर के साँझ जैसे पंख, घिसटती टाँगें बालू को बुहारती आतीं। ऐसा लगता कि सरस्वती की वीणा के पास जिस मोर को सौभाग्य मिला था, उसका हलूदी से कोई बिलकुल उलट रिश्ता हो।

विधवाओं ने बलि देने की आग को तैयार कर लिया था ताकि मांस को जड़ीबूटियों के साथ भूना जा सके। वे अधीर हो रही थीं। हुलीअम्मा की भूख को शांत करना होगा। किन्तु हुलीअम्मा की इच्छा उन सबकी इच्छा थी, यह कोई रहस्य नहीं था। गिगीयक्का और तीर्तम्मा ने भाले उठाये और जंगल की ओर चल पड़ीं। विधवाओं ने ज़ोर का शोर किया- 'कोई मेढक या साँप मत लाना।' गिगीयक्का ने बिना दांतों के मुँह से उन्हें गालियां दीं।

गडेरिया मैदानों में घूम रहा था। पहरेदार नींद से भरी आँखों से उस पर निगाह रखे था। खिड़की की डिज़ाइन वाले काँच से वह कलक्टर की आकृति देख सकता था जो एक पलंग जैसी डेस्क पर बैठकर पंखवाली कलम से लिख रहा था।पहरेदार के पास कोई बात करने वाला नहीं था। वह अपने श्रोताओं की हाँ-हूँ करने की कमी महसूस कर रहा था।

गडेरिया ने पहाड़ी पर एक औरत को जले हुए देखा था और वह समझ गया था कि कलक्टर असुर बन गया है। उसने हड्डियों की जाँच की थी। किंतु गडेरिया को तब भी पता नहीं था कि जो उसने देखा वह सच था या उसके स्मृतिविभ्रम का हिस्सा था?

उनलोगों ने जब मरे हुए बाजों के पंख नोचे थे, तब क्या उन्होंने शब्दों और आदेशों के बारे में सोचा था?कलक्टर लगातार बाज़ के पंख से लिखता गया था।

गडेरिया को मछली के तालाब के पास रहना पसंद था। वह रूपहले तारों को फिसलते देखते सो गया था, जो मछलियों की झपक से ग़ायब हो जाते थे। उसके हाथ में अधजली बीड़ी थी।

ज़िला कलक्टर के दफ़्तर में काम करनेवाले रात के पहरेदार मुनियास्वामी की मृत्यु के ठीक बाद विधवाओं का अंतिम उत्सव हुआ था। मुनियास्वामी ने बहुत बार सूचनाओं के एक भरोसेमंद और मूल्यवान स्रोत होने का प्रमाण दिया था। हालाँकि उसकी विवेक-बुद्धि वैसी तेज़ नहीं थी, जैसी स्थानीय भावनाओं को आँकने की क्षमता थी, पर वह वफ़ादार और स्वस्थ था। उसने अपनी पत्नी को महत्वपूर्ण मुद्दों की जानकारी दी थी, जो अब विधवाओं के समूह का अंग है। इसमें कोई शक नहीं कि तित्तूर की विधाओं का पड़ोस के नयूर और पिथूर जिलों के विद्रोहियों से लगातार सम्पर्क था। यह मेरा विश्वास है कि जिला प्रशासन को कमज़ोर बनाने की विद्रोहियों की चेष्टाओं को विधवाओं का समूह छिपाने में मदद करता है।

विलियम ने सील लगा दी। लाल रंग का लाख का मुकुट।

गवर्नर उसकी दूरदर्शिता का क़ायल हो जाएगा।

गिगीयक्का अपने भाले को गीली मिट्टी में धँसाकर क़दम दर क़दम चलती रही। वह जानवरों के रास्ते से तीर्तम्मा को राह दिखा रही थी। वह आवाज़ों का पीछा कर रही थी कुटहनियों के टूटने की आवाज़, पंखों के सरसराने की आवाज़, तालाबों या गड्ढों में जीभ से पानी पीने की आवाज़। सिवाय तेल के धब्बों की चाँदनी के और बिना हिले सोती हुई सफ़ेद छिपकलियों के एकदम अंधकार था। छायाएँ अभयारण्य बुन रही थीं।

तीर्तम्मा उस बिना दाँत वाली औरत के प्रति अपना गहरा आकर्षण स्वीकार कर रही। थी। उसकी भावनाएँ चिंता भरे तनाव में बह रही थीं। वह न जंगल की धरती को समझ रही थी न मौसम को।बस वह गहरी सतर्कता के साथ उसके पीछे चुपचाप चल रही थी। वे एक पेड़ के नीचे बैठ गईं। बूढ़ी औरत ने लंबी साँस खींची- 'कुछ बातें है जिनके कारण मुझे हलूदी के लिए डर लगता है।'

आग के रंग के पंख दृष्टि में कहीं दूर पर फड़के।

तीर्तम्मा ने पूछा- 'लेकिन क्यों बूढ़ी अम्मा?लोग कहते हैं कि वह शक्ति की देवी है।'

गिगीयक्का ने अपनी गरदन पीछे की तरफ़ मोड़ी और अपने बलगम को निगला – 'उस पर श्राप है कि वह चुप रहेगी। अपनी शक्तिहीनता की बात नहीं करेगी। पानी ढोनेवाला आदमी तुम्हें नहीं बतायेगा कि तालाब सूख गया है। हलूदी डरी हुई है। उसका शिकार किया जा रहा है।'

'कभी ऐसा नहीं हुआ कि हलूदी किसी की दीक्षा में न आए। उसके लिए एक नये सदस्य के शब्द हुलीअम्मा की साँस होते हैं। विधवाएँ कभी-कभी हलूदी की बात नहीं मानतीं क्योंकि वे चीज़ों के मतलब भूल जाती हैं। मुझे ऐसा लग रहा है कि वह जंगल में नहीं है, फिर भी यह डर है...'

बूढ़ी औरत बेचैनी से कुछ टहनियों के झंखाड़ के ऊपर से चलकर बोली- 'मेढक से अच्छी चिड़िया रहेगी।' वे जंगली बत्तख के पीछे-पीछे अंदर तक चली गईं।

'कलक्टर और ज़मींदार उसका पीछा करते हैं। वे चाहते हैं कि उसे भोगें और उसका अपमान करें। वह नहीं जानती कि वे लोग तरह-तरह के खेल खेलते हैं। उसे तो यह भी नहीं पता कि उसकी अपनी योजना के पीछे क्या है।'

'हलूदी युद्ध की देवी है जो कई सौ साल बाद हमारी लड़ाई के लिए नींद से जागी है।'

बिना दाँत वाली बुढ़िया मज़बूत जड़ों की रस्सियों के बीच में फँसे पानी पर झुकी। उसने अपनी हथेलियों से जल्दी-जल्दी पानी लिया। उसने धागे के फुंदनों से अपने होठों को पोंछा- 'यह सब पहले की बातें हैं जब बारूद नहीं था, न तोपें थीं, और सिक्कों पर पानी के जहाज़ नहीं थे।

जंगली बत्तख शिकारिनों को अपने घर तक ले गई। उसने अपने साथी, जो उस से रंग में फीका था, के सामने अपने पंख फैलाए और अपने मुकुट को हिलाया। गिगीयक्का ने भाला फेंका। तीर्तम्मा ने मरी हुई चिड़िया को उठाया और उसके सुंदर पंखों को सहलाया। फिर वह उसके पंख नोच-नोचकर चाँदनी से रोशन उस रास्ते पर, जिस पर टहनियों की छाया पड़ रही थी, धीरे-धीरे फेंकती गई। वे भूरी और पीली फुसफुसाहट में तैरती चली गईं।

तीर्तम्मा ने सरलता से पूछा- 'बूढ़ी अम्मा तुम सब कैसे जानती हो?'

गिगीयक्का तारों की तरह दूर चली गयी थी। ऐसा लगा कि स्मृति के युद्ध के मैदान को वह पार कर चली गई है।

तलवारों की सेनाओं और घोड़ों ने जंगल को हवा में झूलती मशालों के साथ रौंद दिया था। पेड़ों में आग लगाकर उन्हें धूल बना दिया। ज़िंदगी अचानक आग की नदी बन गई थी। धरती को एक औरत के पेट की तरह बिलकुल साफ़ कर दिया गया। सन्नाटा पहाड़ियों में जंग खा गया। औरतें लड़ाई के लिए पहले गयीं। बच्चे पानी के पास छोड़ दिए गए। आग ने तालाबों को सुखा दिया। जनजाति के भविष्य को हड्डियों की राख के ढेर में छोड़ दिया गया ताकि वे सोने के धान की पहली खाद बन जाएं।

बूढ़ी औरत ने अपने होठों को बिना किसी आवाज़ के मोड़ा।

उन लोगों ने आदमियों को जंगल में खदेड़ दिया। वे डर से पागल हो रहे थे। औरतों के गर्भ को जीतने वाली जाति के वीर्य से फुला दिया। कभी-कभी सपनों में वह देखती थी कि छोटे बच्चों की आँखों के सिक्के जले हुए गड्ढों के पास पड़े हैं।

उसके अंदर के संसार की आवाज़ें चुप नहीं हो रही थीं और वह बोल नहीं पा रही थी। उसे खेद था कि उसके पास स्मृति थी किंतु हलूदी की कविता नहीं थी।

पंख पुरानी कब्रगाह पर गिर गए। बूढ़ी औरत धीरे धीरे भाले को पकड़े हुए चलती रही। उसकी हथेलियों पसीज रही थीं। 'वे शक्ति को नहीं पहचानते। वे सुंदरता पर आक्रमण करते हैं। वे यह नहीं जानते कि वह वापस आयी है हमारा बदला लेने के लिए। अब ये सफ़ेद भूत समुद्र पार करके आए हैं. .'- वह एक चट्टान पर बैठ गई थी।

तीर्तम्मा ने कुछ दवाओं की बूटियों को हथेली में भर लिया और उन्हें अपने हाथों से मसल दिया।

'इस बालू की जगह पर भी जंगल थे...और भाले हमेशा गुफा में रखे जाते थे।'

तीर्तम्मा ने एक चट्टान से चिपकी हुई चिकनाई को उठाया- 'लेकिन हलूदी के लिए तुम्हें किस बात का डर है?'

'ज़मींदार ने उसे कहा है कि वह भी तित्तूर के इलाक़े में विधवाओं की सभाएँ बंद करे। अगर वह ऐसा नहीं करती तो वह पुजारी को कहेगा कि वह उसे चुड़ैल घोषित कर दे और उसे गाँव से बाहर निकाल दिया जाए। शायद वे उसे तब भोगना चाहते हैं जब उसकी शक्ति खत्म हो जाए।'

तीर्तम्मा ने गिगीयक्का के तलवों पर चट्टान से उठाई नमी लगा दी। उसका हरा ठंडापन उसकी दर्द की दरारों को भरता गया।

तीर्तम्मा ने चुपचाप पूछा- 'विधवाएँ क्या बोलती हैं?'

गिगीयक्का ने आगे झुककर कहा- 'वे नहीं जानतीं।'

तीर्तम्मा को एक पूर्णविराम का अंतिम छोर समझ में आ गया। यह पूरे अंधकार का एक पल था।

'तब फिर हमारे अनुष्ठान का क्या मतलब है?'-वह फिर बोली।

'सिर्फ़ हलूदी जानती है किन्तु उसे याद नहीं है'- उसकी कटुता को उसकी उम्र का ढक्कन भी मुश्किल से छिपा पाया। वह फिर सितारों की तरह दूर थी।

तीर्तम्मा ने बत्तख़ के पंख नोच कर उसे बिलकुल साफ़ कर दिया था। वह एक नवजात शिशु की तरह बिलकुल गंजा उसके हाथ पर पड़ा था। उन्होंने गुफा से स्वागत करती हुई आग की लपटें देखीं। शराब में डूबी हुई हँसी की आवाज़ें लहरों की तरह उनके पास आयीं।

बत्तख को आग पर रख दिया गया। हलूदी अब भी नहीं आयी थी। शराब के नशे में विधवाओं को उसकी अनुपस्थिति का पता नहीं चला और शिकारिनों ने थकान के मारे ध्यान नहीं दिया। आग हज़ारों जीभ के साथ नंगे माँस पर लपक रही थी। विधवाओं ने कोयले की गर्मी से अपने पैरों को गर्म किया।

तीर्तम्मा के दिमाग़ में एक रहस्यमय स्पष्टता जैसे जाग उठी थी। उसे बूढ़ी औरत की बिखरी बातें समझ में आ गईं। सुबह की सुंदरता, संगीत और आवाज़ की खोजकृये उसके लिए नहीं उपलब्ध थे। धरती पर मेहनत करना उसे तोड़ता था और खदानों में पत्थरों को तोड़ना उसे गूँगा बना देता था। किन्तु उसके बालों की सुगंध उसके सपनों से लगातार बहने वाले आँसू थे। ऐसा नहीं हो सकता।

हलूदी की अनुपस्थिति, दीक्षा की जादुई गहराई रात के आकाश पर लिखी थी। डर दृष्टि को मोड़ रहा था।

वह बूढ़ी औरत के पास गई जो चीनी के टुकड़े को अपने थूक से गीले मसूड़ों से चूस रही थी। 'मुझे भी हलूदी के लिए डर लग रहा है। वह क्यों नहीं आयी?'

वे दोनों औरतें बत्तखों को चखे बिना चली गईं। उनके एक समान संदेह किसी भ्रांति के पथ पर ले जा रहे थे। वे यह सोचकर गईं कि कोई होगा जिससे पूछा जा सकता है और कोई होगा जिससे लड़ा जा सकता है।

किन्तु वे निष्कर्ष की छाया तक नहीं पहुँचीं। उन्होंने बुझी हुई राख के चिन्ह देखी जो किसी चिता के थे। बूढ़ी औरत एक टूटी हुई सफ़ेद कंधे की हड्डी के ऊपर से लुढ़क गई थी। राख से अंधी होते हुए वह चिल्लायी- 'वे फिर आ गए हैं। जंगल में और अंदर चले जाओ।'

बाद में यह कहा गया कि हलूदी की आत्मा ने बीच में आकर उनसे वापस अनुष्ठान में लौटने का आग्रह किया था। किन्तु सच यह था कि किसी से कुछ न पूछा गया और न किसी से लड़ा गया। तित्तूर की विधवाओं ने कभी उसके ग़ायब होने के बारे में खोज नहीं ली। उनके मौन में और हलूदी के गानों में बस कुछ कहानी बच गई।

कलक्टर विलियम जानता था कि विधवाएँ पहाड़ी के पश्चिम की तरफ़ इकट्ठी हैं। शायद उन्हें संदेह था या वे जान गई थीं। किंतु अब वे सिर्फ़ गायों का एक निरीह झुण्ड थीं जिन्हें आसानी से हाँका जा सकता था।

पतियों के मरने का उत्सव मनाना हत्या थी। जंगलीपन था।

एंग्लो-सैक्सन तर्क के पैमाने से आतंक को सील कर दिया गया था। पूरब की सभ्यता का सिर्फ़ एक धुँधला परीक्षण ही उनकी बंद आँखों की पहरेदारी में संभव था। रिपोर्ट गोपनीय रखी गई। उसमें सावधानी बरती गई थी। गवर्नर अपने बुद्धिमानी पर अपनी पीठ ठोकेंगा। उसके तुरंत उठाए क़दम ने महत्वपूर्ण मुद्दे को सुलझा दिया था।

विलियम ने अपने लाल ताबीज़ पर उंगली लगायी और लिफ़ाफ़े को उस हरकारे को पकड़ा दिया जो भोर में एक काले अरब के घोड़े पर तित्तूर से बाहर चला गया।

कटहल के पेड़ अपने पत्थर जैसे फलों को उबड़-खाबड़ चोटियों पर गिरा रहे थे। उनकी मीठी-खट्टी सुगंध पहाड़ियों को काफ़ी दिनों तक घेरे रखेगी। ●

लाहौर में इंतज़ार हुसैन

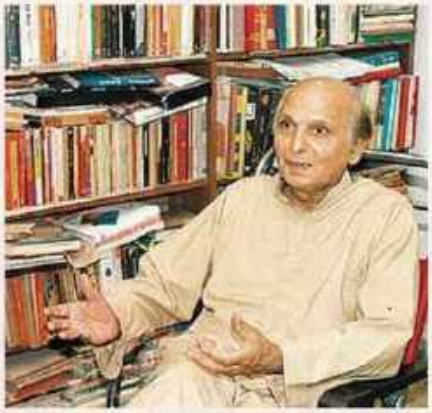

असगर वजाहत का प्रसिद्ध नाटक है 'जिस लाहौर नहीं वेख्या ओ जन्मया ई नई' यानी जिसने लाहौर नहीं देखा उसका जन्म ही नहीं हुआ। उसी तर्ज पर अगर आप लाहौर जाकर मशहूर अफसाना निगार इंतज़ार हुसैन से नहीं मिले तो किसी से क्या मिले। लाहौर उनकी यादों में जितना बसा है, उतना हमारी यादों में भी बसा है। कथाकार प्रितपाल कौर ने कुछ साल पहले अपनी लाहौर यात्रा में इंतज़ार हुसैन से मुलाक़ात की। पढ़िये उनका एक संस्मरण--

प्रितपाल कौर

करीब आठ साल पहले मुझे लाहौर जाने का मौका मिला। मेरे लिए यह यात्रा कई मायनों में बेहद खास, दिलचस्प और ज्ञानवर्धक रही। लाहौर जाकर अगर मैं इंतज़ार हुसैन साहिब से नहीं मिलती तो मेरा लाहौर जाना अधूरा ही रहता। सो मैंने जाने से पहले ही फोन पर उनसे बात की। और ये खुशी की बात रही कि वे उन दिनों लाहौर में अपने घर पर ही रहने वाले थे जिन दिनों मैं एक सप्ताह के लिए लाहौर की यात्रा पर जा रही थी। मुझे जिस दिन लाहौर से वापिस आना था उसके एक दिन पहले इंतज़ार हुसैन के यहाँ जाना था। शाम की चाय पर उनके यहाँ जाने की बात तय हुई थी। उनके लिए मैं भारत से खसखस का एक पैकेट लेकर गई थी जो उन्होंने विशेष आग्रह करके मँगवाया था।

इससे कुछ महीने पहले वे भारत आए थे। उस दौरान उत्तर प्रदेश के बुलंदशहर जिले के अपने पैतृक गाँव डिबई को देखने के लिए जब वे जा रहे थे तब लंच के लिए मेरे घर पर रुके थे। मैं और मेरा परिवार उन दिनों दिल्ली से सटे गाज़ियाबाद के वैशाली उपनगर मे रहते थे। मेरी उनसे वह पहली मुलाकात थी। मेरा परिचय हुआ तो मेरे सिख परिवार से होने पर बात चली। उनकी आँखों में एक विशेष किस्म की चमक उभर आई। उन्होंने बड़े मज़े मज़े में अपने विचार कुछ यूं व्यक्त किए थे। विनोदी स्वभाव के इंतज़ार हुसैन के लेखन में शायद उस विनोद का पुट कम हो मगर बातचीत में वे इतने आहिस्ता से कोई बात कह जाते थे जो मज़ाक होते हुए भी बेहद वजनी होती थी।

तो उस रोज डायनिंग टेबल पर उन्होने कहा, देखो, मुझे क्या लगता है कि जब मैं मर जाऊंगा। अब वैसे ज्यादा साल बचे नहीं है। कितना और जिए चला जाऊँ? और जब मरने के बाद उधर जाऊंगा तो एक मेज होगी बिल्कुल ऐसी ही। या शायद गोल मेज होगी। अंग्रेजों वाली। राउन्ड टेबल कॉन्फ्रेंस वाली। तो उसके चारों तरफ ये सब बैठे होंगें। कौन?अल्लाह, वाहेगुरु, कृष्ण, राम, जीसस और भी सारे। तो एक आदमी वहाँ खड़ा रहेगा। सबकी हाजिरी लगाता हुआ।

वो पूछेगा, ए सुनो! अल्लाह वाले कौन-कौन हैं। इधर आ जाओ, इस लाइन में लग जाओ। फिर बोलेगा, जीसस वाले कौन-कौन हैं। उधर उस लाइन में लग जाओ। ऐसे ही सब को लाइन में लगवा लेगा। सब लोग लाइन में खड़े हो कर इंतज़ार करते रहेंगे।

फिर उधर से अल्लाह बुलाएगा, 'मेरे वाले इधर आ जाओ।' और मैं अल्लाह के पास चला जाऊंगा। मैं तो अल्लाह वाली लाइन में लगा रहूँगा ना। बीबी तुम किस लाइन मे लगोगी?इसके साथ ही खुल कर हँसे थे। मैं समझ गई थी मुझे फंसा रहे हैं।

मैंने कहा था, 'मैं तो हिन्दू हूँ। मुझे तो मोक्ष मिलने वाला है। मुझे तो किसी भी लाइन में लगना ही नहीं पड़ेगा। मैं अच्छे कर्म करती हूँ।'

वे खूब हँसे थे। दरमयाने कद के, दुबले और चुस्त चाल-ढाल के मालिक इंतजार हुसैन साहिब जब हँसते थे तो जैसे हवा भी उनके साथ हंसने लगती थी। आज उन्हीं से मिलने जाना था। पता उन्होंने मुझे मैसेज पर भेज दिया था। ये पुराने लाहौर का पता था। शाम को गाड़ी आई तो वो पता कागज पर लिख कर मैंने ड्राइवर को दिया। मगर लाहौर प्रवास में मैंने अक्सर पाया था कि आम आदमी जो वहाँ व्हाइट कॉलर जॉब नहीं करता है, शायद स्कूल भी नहीं जा पाता। ड्राइवर अंग्रेजी नहीं पढ़ सकते, मैं उर्दू नहीं लिख सकती। कुछ ड्राइवर तो ऐसे भी मिले जो उर्दू भी ठीक से नहीं पढ़ पाते थे। तो जी हमारी छोटी सी यात्रा शुरू हुई इंतज़ार हुसैन का घर ढूँढने की। मेरा ख्याल था इतने मशहूर लेखक का घर पूरा लाहौर ना जाने, मगर उनके मोहल्ले के लोग तो ज़रूर जानते होंगे।

शाम के पाँच बजे थे जब गाड़ी मेरे गेस्ट हाउस पहुँच गई और मैं इंतज़ार हुसैन के घर के लिए निकल पड़ी। उनके मोहल्ले तक पहुँचने में मुश्किल से बीस मिनट लगे होंगे। मुख्य सड़क से अब हमें अंदर गली में दाखिल होना था। जो पता उन्होंने दिया था उस हिसाब से मैंने सही गली ढूंढ ली थी।

लेकिन गली में जाने के बाद उनके घर का नंबर मिलना मुश्किल हो रहा था। कारण कि घरों पर नंबर नहीं लिखे हुए थे। जब उनसे बात हुई थी तब उन्होंने एक स्कूल का जिक्र भी किया था जो कि उनके घर के पास था। मैंने ये सोच कर कि इंतज़ार हुसैन का घर ढूंढ लेना कौनसा मुश्किल काम होगा, स्कूल का नाम लिख कर रखने की जहमत ही नहीं उठाई। और यही मेरे भूल रही। जगह-जगह रुकते चलते हम लोगों से पूछते रहे, गली तंग होती जा रही थी। उनका नाम लिया तो कुछ ने तो सुना हुआ ही नहीं था। और जो उन्हें जानते भी थे वे ये नहीं जानते थे कि इतने बड़े और मशहूर लेखक उनके ही मोहल्ले में रहते हैं। अलबत्ता काफी आगे चले जाने के बाद एक सज्जन ने बताया कि हम आगे निकल आए हैं। स्कूल पीछे रह गया है। आप वापिस लौट जाएं। तब तक इंतजार हुसैन का फोन भी मिल गया था। इससे पहले दो बार नो रिप्लाइ गया था।

हुआ ये था कि वे हमारी गाड़ी की आवाज सुन कर बाहर निकल आए थे। जबकि हम आगे बढ़ गए थे। वे बाहर हमारा इंतज़ार कर रहे थे कि हम लौट कर तो आएंगे ही। और घर पर फोन बजता रहा। जो आखिरकार उनके मददगार ने उठाया जो उस वक्त किचन में बिजी था।

खैर! हम वापिस लौटे तो वे मुझे दूर से ही गली में खड़े हुए नजर आ गए। मन अजीब सा हो आया। इतने बड़े लेखक और बुजुर्ग वे इस तरह खड़े हो कर मेरा इंतज़ार कर रहे थे। अपनी लापरवाही पर क्षोभ हुआ। बेहद प्रेम और अपनत्व से उन्होंने मुझे सर पर हाथ फेर कर आसीस दी और भीतर ले कर गए। पंजाबी परिवारों में इसी तरह लड़कियों को सर पर हाथ फेर कर प्यार देने का चलन है।

उनका घर बिल्कुल वैसा ही था जैसा किसी भी सदगृहस्थ मगर अकेले रहने वाले पुरुष का हो सकता है। मध्यम आकार का हाल था। पुराने ढब का बना हुआ। जिसमें वाल टू वाल सुंदर सिल्क का कालीन बिछा था। कालीन कुछ कहता हुआ सा लग रहा था। मैंने सुनने की कोशिश की तो उसने घर में स्त्री की अनुपस्थिति की शिकायत की। मुझे जितनी जानकारी थी उसके अनुसार इंतजार हुसैन की पत्नी का देहांत हो चुका था।

उस दिन चाय पर मेरे अलावा और भी कई मित्रों

को उन्होनें बुलाया था। वे सब मुझसे मिलने के लिए आ रहे थे। एक तरह से यह आयोजन मेरे सम्मान में उन्होने रखा था। ये जानकर मुझे जो खुशी हो रही थी उसे बयान करना जरा मुश्किल है। ये वो वक्त था जब मेरे पहली पुस्तक अभी प्रकाशित होना बाकी था। मैं तब तक टेलीविज़न पत्रकार और कहानी लेखक ही थी। पहला उपन्यास लिख रही थी।

इस नाते इस तरह इंतजार हुसैन का मुझसे मिलने के लिए इतने लोगों को बुलाना और मुझसे मिलवाना मेरे लिए बहुत सम्मान की बात थी। और अद्भुत बात जो मुझे लगी वो ये कि इंतज़ार हुसैन साहिब बड़े ही शानदार मेजबान थे। आम तौर पर लेखक और कवि खुद को और अपनी रचनाओं को लेकर बेहद मुखर हो जाते हैं और चर्चा उन्हीं तक सीमित हो कर रह जाती है। मगर इंतजार हुसैन की यह खूबी मैंने उस दिन शिद्दत से महसूस की कि वे खामोशी से आने मेजबान होने का फर्ज निभा रहे थे।

सभी मेहमानों की खातिरदारी अच्छे से हो, सब एक दूसरे से घुल-मिल कर बातचीत करें, सबका खाना पीना सही ढंग से हो। उनका पूरा ध्यान इसी बात पर था। एक दो बार मैंने उनकी रचनाओं को लेकर चर्चा करना चाहा तो उन्होंने सलीके से बातचीत का रुख मोड़ दिया। जैसे कह रहे हो, बीबी, तुमने पढ़ ली। मेरा लिखना सफल हुआ। चर्चा क्या करना? आत्म-मुग्धता से कोसों दूर। एक ऐसे इंसान जो शोहरत और रचनाधर्मिता के शिखर पर हैं मगर अपनी जमीन पर मजबूती से टिके हैं। जिन्हें इस बात का रत्ती भर भी गुमान नहीं कि कितने ही लेखक ऐसे होंगे जो खुद को उस मुकाम तक ले जाने का ख्वाब देखते होंगे जहां इंतज़ार हुसैन पहुँच चुके हैं।

बहुत सौहार्दयपूर्ण माहौल में बातचीत होने लगी। साथ में चाय और स्नैक्स आए। पाकिस्तान में कुछ चीजें जो मुझे पसंद आईं वो थी चाय। कहीं भी किसी भी तरह की चाय पी, सभी जगह उसका स्वाद और फ्लेवर लाजवाब मिला। इसे आप लिपटन चाय का विज्ञापन न समझें मगर जब से मैंने चाय पीना शुरू किया है यही एक चाय है जिसकी स्वाद और सुगंध मुझे दोनों पसंद हैं। और ये चाय श्रीलंका की चाय है। इसे चाहे तो ब्रू करें, चाहें तो उबाल कर काढ़ कर बनाएं। हर हाल में अच्छी लगती है। जबकि हमारी भारत की काली चाय काढ़ कर बेहतरीन बनती है मगर ब्रू करने पर इसमें वो जायका नहीं आता जो श्रीलंका की चाय में आता है। दार्जिलिंग की चाय इसका अपवाद है। पानी और मिट्टी का फरक तो होता ही है।

लाहौर में मुझे हर जगह चाय में वही स्वाद और खुशबू मिली। और खोज करने पर मैंने पाया कि इसकी वजह ये है कि पाकिस्तान में चाय श्रीलंका से आती है। वे भारत से चाय नहीं लेते या शायद हम उन्हें चाय नहीं देते। हमारी चाय और बासमती चावल यूरोप में बहुत पसंद किए जाते हैं। इनके बड़े बड़े होर्डिंग मैंने वहाँ चौराहे और ट्यूब में लगे देखे हैं। मगर आज जो हालात श्रीलंका में बन गए हैं और जिस तरह की आर्थिक स्थिति पाकिस्तान की है, शायद अब लाहौर की चाय में वो स्वाद न बचा हो।

इंतजार हुसैन के घर ब्रू के हुयी चाय की केतलियाँ एक के बाद एक रसोई से आ रही थीं और हम उस का आनंद ले रहे थे। अब तक करीब दस बारह लोग आ गए थे। हाल भर चुका था। मेरे लिए ये पहला मौका था जब उर्दू के किसी अदीब के घर महफ़िल जमी थी और शराब का नामोनिशान तक नहीं था। बड़ा खूबसूरत और नफीस माहौल बना हुआ था। वे मुझसे मेरे लाहौर के अनुभव पूछ रहे थे। मैंने कुछ बातें बताईं। FC कॉलेज के मेरे अनुभव पर सभी ने दुख प्रकट किया। कॉलेज की लाचारी के साथ सहमति भी जताई।

वे सभी इंतजार हुसैन के मित्र थे। और बातचीत में मालूम हुआ कि वे लोग अक्सर उनके घर आते-जाते रहते हैं। यानि अकेले रहने के बावजूद इंतजार हुसैन का सामाजिक दायरा अच्छा खासा बना हुआ था। शाम काफी बीत चुकी थी जब एक और सज्जन वहाँ आए। वही लाहौरियों जैसा उनका ऊंचा लंबा कद, गठा हुआ बदन, कडक आवाज। प्रभावशाली व्यक्तित्व। परिचय हुआ। वे वरिष्ठ पुलिस अधिकारी थे। और इंतज़ार हुसैन के घनिष्ठ मित्र भी। परिचय की आरंभिक औपचारिक बातचीत के बाद छूटते ही पहला सवाल उन्होनें मुझसे जो पूछा वो ये था, 'तो कैसा लग रहा है आपको पाकिस्तान में आकर?'

ये खासा जटिल सवाल था। मेरे पास इसका कोई सीधा जवाब नहीं था। मैं तो खुद अपने भीतर एक जंग लड़ रही थी। खुद ही समझने की कोशिश में थी कि लाहौर आना मेरा लिए क्या मायने रखता था और मैं क्या हासिल कर सकी। मन उदास भी था। मन को कहीं एक सुकून भी था। सुकून इस बात का कि इस धरती पर कदम रखे जो मेरे पूर्वजों की धरती है। इसकी तासीर को समझने की कोशिश की। कितना समझ पायी ये अनुभूति तो धीरे-धीरे अपने भीतर इन सभी अनुभवों को जज्ब करने के बाद हो पाएगी। उस समय जब कि मैं अभी उस धरती की तपिश को झेल रही थी। उस धरती की ठंडक को अपने सीने से लगा कर अपने साथ ले जाने की मुहिम में जुटी थी, कुछ भी कह पाना मेरे लिए संभव ही नहीं था। अब जाकर इतने बरस बीत जाने के बाद मेरे लिए लाहौर यात्रा के बारे में लिखना संभव हो पाया है।

कुछ पल खामोश रह कर मैंने देखा कि शायद इसी खामोशी से मेरा काम चल जाए। मगर पूरे कमरे में उनके इस सवाल के बाद खामोशी छा गई थी। वे सब भी इस सवाल का जवाब जानना चाहते थे। मैंने जाना कि मैं वहाँ सिर्फ एक उर्दू शायर की पत्नी या पत्रकार लेखक की हैसियत से नहीं बल्कि उस बच्चे की तरह देखी जा रही थी जिसके पुरखे इस धरती से जान की सलामती के लिए बेघर कर दिए गए थे। कहीं तो उन के मन में थोड़ा सा तो ग्लानि का भाव होगा ही। हालांकि मैं तमाम कोशिशों के बावजूद एक हल्की सी भी दरार उस मुआशरे में नहीं ढूंढ पाई जो मुझे ये समझ पाने में मदद कर सके कि कहीं तो किसी मन में का ही कोई भाव मौजूद हो, जिसके ऊपर से हो कर इस देश का निर्माण संभव हुया था। वो देश जो आज एक बार फिर से विघटन के कगार पर खड़ा है और जिसका नाम पाकिस्तान है।

इस जहनीयत की बात करते हुए मुझे मेरी एक मित्र माहे तलत (उनका पिछले महीने देहांत हो गया है) की बात याद आती है। वे जन्म से पाकिस्तानी थीं, मगर बीस साल की उम्र में इंग्लैंड में बस जाने के बाद से वे ब्रिटिश नागरिक हैं। उनके परिवार दोनों तरफ हैं। पाकिस्तान आना-जाना लगा रहता है। एक दिन मुझसे बात करते हुए उन्होनें खुल कर कहा कि वे कई बार अपने रिशेदारों से भिड़ जाती हैं जब वे भारत को पिछड़ा हुया साबित करने की कोशिश करते हैं। वे खुद कई बार भारत आ चुकी हैं। मेरे साथ भी उन्होनें भारत दर्शन किया है। वे यहाँ की सही तस्वीर अपनी आँखों से देख चुकी है और हमारे देश की आत्मा से उनका साक्षात्कार हो चुका है।

उन्होनें मुझसे कहा, 'मैं उनसे कहती हूँ तुम यहाँ बैठे इंडिया को पिछड़ा हुया कहते हो। तुम्हें पता भी है इंडिया कहाँ पहुँच गया है?और तुम वहीं के वहीं खड़े हो जहां सन सैंतालीस में खड़े थे। मुझे तो लगता है पीछे ही जा रहे हो।'

खैर! मेरा अनुभव इतना खराब नहीं रहा। इसलिए भी कि इतना मान उन्होनें मेरा रखा कि अगर भारत की बुरायी मन में हो भी तो मेरे सामने उन्होनें नहीं की।

अब इस वक्त सभी मेरी तरफ तरफ देख रहे थे। वे जानना चाहते थे कि मेरा अनुभव कैसा रहा। चुप रहने से बात नहीं टलने वाली थी।

हार कर मैंने कहा जो उस वक्त मुझे समझ आया, 'मुझे लगा ही नहीं कि मैं पासपोर्ट पर यहाँ आई हूँ। यहाँ की मिट्टी और हवा मेरे भारत जैसी ही है।'

'वल्लाह!' ये आवाज कई तरफ से आई। मगर मुझे एहसास हुआ कि वे पुलिस अधिकारी मेरे जवाब पर नाखुश से दिखे थे।

इंतज़ार हुसैन ने बात को हल्का करने की खातिर हँसते हुए कहा, 'अरे इतनी तारीफ मत करो वरना ये जनाब आपको डिपोर्ट करवा देंगें।'

एक सम्मिलित ठहाका गूंज उठा। मैंने भी बिना डरे जवाब दिया।

'अब तो शाम हो ही गई है। कल मैंने चले ही जाना है। अमृतसर से मेरी फ्लाइट बुक है। अब तो मैं कुछ ही घंटों की मेहमान हूँ आपके देश में।'

इंतज़ार हुसैन ने फिर एक चुटकी ली, 'क्यों जनाब। ठीक कहती है प्रीतपाल साहिबा। अब छोड़ दीजिए इन्हें। कोई फायदा नहीं होगा इतनी मशक्कत कर के।'

ठहाकों का एक दौर फिर गूंज उठा। उर्दू वाले प्रितपाल नहीं बोलते। उनके यहाँ आधा शब्द नहीं बोला जाता।

इंतज़ार हुसैन के घर से बहुत सी खुशनुमा यादों के साथ देर शाम मैंने एक तरह से लाहौर की गलियों सड़कों से भी विदा ले ली थी। ●

'आलोचक जज नहीं होता'

–रोहिणी अग्रवाल

रोहिणी अग्रवाल हिंदी की शीर्षस्थ स्त्री आलोचक हैं। उन्होंने हिंदी आलोचना में स्त्री दृष्टि को स्थापित किया है। इस बातचीत में उन्होंने विस्तार से आलोचना पद्धति और पाठ के विश्लेषण पर बात की हैं और बंग महिला से लेकर आज के कहानीकारों की चर्चा की है। कृष्णा सोबती, मंन्नू भंडारी और मृदुला गर्ग पर अपना विशेष ध्यान आकर्षित किया है।

रोहिणी अग्रवाल से शशिभूषण मिश्र की बातचीत

मिश्र- रोहिणी जी आप पिछले दो तीन दशकों से आलोचना की दुनिया में सक्रिय हैं और आपने एक मुकाम हासिल किया है। समकालीन कथा साहित्य की आलोचना में आपके बाद कोई स्त्री आलोचक नज़र नहीं आती। आपसे पहले मैं यह पूछना चाहूंगा 'स्त्री लेखन' के स्वप्नों और संकल्पों की दुनिया का 'कहानी में प्रस्तुत स्वप्नों और संकल्पों की दुनियां' से क्या रिश्ता है? बुनियादी स्तर पर एक जैसे दिखने वाले इन दोनों बिन्दुओं में मुख्य फर्क क्या है?

अग्रवाल- (मुस्कुराते हुए) मुझे अनायास अपनी पुस्तक का शीर्षक याद हो आया है- 'स्त्री लेखन : स्वप्न और संकल्प'। दाद देती हूं कि बेहद मानीखेज सवाल उठाते हुए आपने इस शीर्षक का इतना रचनात्मक उपयोग किया। कह सकते हैं कि बहुत दूर तक साथ चलने के बाद दोनों 'स्त्री लेखन' और 'कहानी की स्त्री दुनिया' अपना अंतिम पड़ाव अकेले-अकेले पार करते हैं।

'स्त्री लेखन' के सरोकार जिस तरह समाज की सांस्कृतिक-राजनीतिक-आर्थिक-सामाजिक व्यवस्थाओं और शास्त्र-विधानों से टकराकर अपनी परिधि का विस्तार करते हैं, उसी प्रकार अभिव्यक्ति के लिए उसके सामने साहित्य की हर विधा के द्वार खुले हैं। उल्लेखनीय है कि विमर्शवादी ठोस स्त्री-लेखन निबंध एवं आलोचना विधा में अधिक प्रभावशाली ढंग से हो रहा है क्योंकि आज सबसे बड़ी ज़रूरत स्त्री-विमर्श की सैद्धांतिकी को भारतीय परिप्रेक्ष्य में निर्मित करना है। इसके अलावा इन दिनों आत्मकथात्मक लेखन पितृसत्ता और समाज के साथ स्त्री के बदलते संबंधों का प्रामाणिक लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है तो कविताओं की तरलता में ओज और आग भरने लगता है। पितृसत्ता एवं अन्य संस्थाओं/सत्ताओं/ शास्त्रों से स्त्री की लड़ाई 'संपूर्ण मनुष्य' का गौरवमय दर्जा पाने के उन्नत स्वप्न से बँधी है जिसे दिवास्वप्न की तरह खामख्याली में जीने की बजाए वह संघर्ष और जिजीविषा की आँच पर पकाई संकल्पदृढ़ता के सहारे ठोस यथार्थ में तब्दील कर लेना चाहती है। स्त्री लेखन की स्वप्नशील संकल्पदृढ़ता लैंगिक पूर्वाग्रहों से मुक्त जेंडर-निरपेक्ष मनुष्य-समाज की रचना करना है जहाँ न कोई विषमतामूलक पदानुक्रम हो, और न हीन-श्रेष्ठ का विभाजन। स्वप्न की संघर्षशील संकल्पदृढ़ता यूटोपिया को यथार्थ बना ही डालती है, अंततः।

मिश्र- आपने आलोचना की भाषा ही नहीं उसके आलोचनात्मक पाठ को भी बदला है। एक स्त्री के रूप में आप इन बदलावों को किस तरह विश्लेषित करना चाहेंगी?

अग्रवाल- खासा गंभीर सवाल है यह शशि भूषण जी, और चुनौतीपूर्ण भी। अपने आप को आलोचनात्मक दृष्टि से देखना बेहद जटिल काम है। अपनी रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए मैं आपके इस सवाल का जवाब देने की कोशिश करूंगी। एक स्त्री के रूप में मैंने सदा स्वयं को द्वंद्वात्मक स्थिति में पाया है। शिक्षा एवं पोथीबंद ज्ञान ने स्त्री, समाज, संबंध और बहिर्जगत को समझने की जो पारंपरिक दृष्टि दी, वह सदा मेरे निजी अनुभवों से अलग रही; उन निजी अनुभवों से जिन्हें स्त्री-नियति के साथ रोजमर्रा की जिंदगी जीते हुए मैंने परिवार-समाज के संदर्भ में स्वयं कमाया। जिस स्त्री को मैंने पग-पग पर शारीरिक-मानसिक हिंसा का शिकार होते देखा हो, जिसे कभी डिसीजन मेकिंग में शामिल होते नहीं देखा हो, जिसके अधिकारों को एक निर्लज्ज दबंगई के साथ परिवार के ही अन्य सदस्यों द्वारा छीने जाते देखा हो, जिसे शिक्षा, स्वाभिमान, पारिवारिक संपत्ति और गतिशीलता के बुनियादी अधिकार से वंचित होते देखा हो, ऐसी कंठस्थ करा दी गई महिमामंडित गाथाओं के मोहक-जाल में फंसी स्त्री को कैसे भूल जाऊं?आंख मूंदकर इंद्रधनुष रंगने वालों की जमात में मैं कैसे शामिल हो जाऊं, जब ठीक उसी वक्त मुझे आसमान में काला घटाटोप अंधेरा दिखाई दे रहा हो? मैं अपने हिस्से की नजर को अपने वजूद से जुदा कर दूंगी तो पिंजरे में बंद तोते की तरह वही सब कुछ बोलने लगूंगी जो सदियों से दोहराया जाता रहा है।

मैं किसी कथाकृति के स्त्री-चरित्र को किसी विराट शून्य में नहीं देखती, उसके चारों ओर सलीके से बुनी गई चुप्पियों के निर्वात में छुपी सामाजिक हलचलों और लेखक की 'उपस्थिति' को पकड़ने की कोशिश करती हूं। परंपरा का पिष्टपेषण आगे बढ़ना नहीं है। लेखक बुनियादी तौर पर विद्रोही नहीं होगा तो रूढ़ियों और विद्रूपताओं की शिनाख्त नहीं कर पाएगा। शिनाख्त कर भी ले, तो दो-दो हाथ कर उन्हें विस्थापित करने हेतु नई निर्मितियों की तलाश में बेचैन नहीं होगा। लेखक की बेचैनी व्यवस्था के साथ उसकी जंग की कहानी है। पूर्वाग्रहों से और बंद-बंधी सोच से स्वयं मुक्त हुए बिना वह मुक्ति का ड्राफ्ट नहीं रच सकता। मुक्ति का पहला लक्षण है- उसकी थिरकन की चहुं ओर निर्बंध व्याप्ति! लेखक मुक्त होगा तो परंपरा और शास्त्र, सांचों और सिद्धांतों के दबाव हटते ही वह भी थिरकने लगेगा- कभी भाषा के संग नई हिलोर लेकर, कभी ढकी राख की चिंगारियों से विचार के नए अलाव लहकाकर। बदलाव क्रांति नहीं लाते; क्रांति को जड़ता के घेरे से मुक्त करने की वक्ती कोशिशें होती हैं जिन्हें पड़ाव दर पड़ाव आगे ले जाने का दायित्व ही लेखन-परंपरा की सृजनशीलता है।

मिश्र- एक स्त्री और एक पुरुष की रचना दृष्टि में क्या कोई बुनियादी फर्क होता है? और अगर कोई बुनियादी फर्क नहीं होता तो बहुत बारीक सा फर्क तो जरूर होगा? इस संदर्भ में आपका क्या मानना है?

अग्रवाल- (हंसते हुए) आज के अतिसंवेदनशील दौर में पॉलिटिकली करेक्ट होना

हम सब की जरूरत हो गया है। इसलिए स्त्री-पुरुष की दृष्टि में पाए जाने वाले बुनियादी फर्क को स्वीकारते हुए भी हम इसे बारीक फर्क मान कर काम चला लेते हैं। यहां मैं दो बातें कहना चाहूंगी। एक, मैं इस स्टेटमेंट में विश्वास नहीं रखती कि सभी पुरुष अनिवार्य रूप से स्त्री-विरोधी या पितृसतात्मक होते हैं; और कि सभी स्त्रियां अनिवार्य रूप से पितृसत्ता की शिकार 'बेचारी' और 'भली' होती हैं। दरअसल यह स्वीपिंग स्टेटमेंट है जो लैंगिक पूर्वाग्रहों को पुख्ता कर के स्त्री-पुरुष की मानवीय गरिमा के लिए लड़ी जाने वाली लड़ाई को डाइल्यूट करती है।

दूसरी बात, प्रत्येक व्यक्ति अपने परिवेश की उपज होता है, लेकिन अपनी विशिष्ट मानवीय अस्मिता वह तभी पाता है जब परिवेशगत दबावों और संकीर्णताओं का अतिक्रमण कर वह आत्मकेंद्रित आत्ममुग्धता को सहानुभूति में नहीं, समानुभूति (एंपैथी) में उदात्तीकृत कर ले। सहानुभूति के गुणों का साहित्य की सीमाओं में खासा कीर्तन-अर्चन किया जाता रहा है, लेकिन दरअसल यह विशिष्टता और वर्चस्व की दंभपूर्ण स्थिति का विनम्र प्रदर्शन ही है। लेखन में यथार्थ के समानांतर कल्पना का योगदान कितना ही क्यों न हो, वह पारदर्शी जल की तरह लेखक की अंतःवृत्तियों को रचना में ज्यों का त्यों उघाड़ देता है। बस, पकड़ने वाली नजर हो पाठक-आलोचक के पास।

बंग महिला, चंद्रकिरण सौनरेक्सा, उषा देवी मित्रा आदि से होते हुए मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, और सत्तर के दशक की शशि प्रभा शास्त्री, दीप्ति खंडेलवाल, मालती जोशी, कुसुम अंसल, सूर्यबाला, मेहरुन्निसा परवेज आदि स्त्री के पक्ष में लिखने का दावा करते हुए भी उनके आंसुओं, बेबसी, अतिरेकपूर्ण विद्रोह या प्रतिशोध का ही महिमामंडन करती हैं जो प्रकारांतर से पितृसत्ता के हाथ मजबूत करते हैं। पाठ की अंतिम टेक में जो रचना स्त्री की मानवीय अस्मिता और गरिमा की रक्षा न कर उसे पुरुष के संदर्भ में समझी जाने वाली इकाई होने का बोध दे, वह स्त्री-पक्ष की रचना नहीं कही जा सकती, उसका लेखन स्त्री ने किया हो या पुरुष ने। जिस तरह लिंग की दृष्टि से स्त्री होना कहानी में स्त्री-सरोकारों की सकारात्मक अभिव्यक्ति की गारंटी नहीं, उसी प्रकार हर पुरुष रचनाकार का स्त्री के प्रति असंवेदनशील होना भी भ्रामक धारणा है। बंकिमचंद्र और शरतचंद्र चटर्जी के दौर में रवींद्रनाथ टैगोर का लेखन अपने समय की तमाम जड़ताओं को तोड़कर स्त्री को 'मनुष्य' का दर्जा देने की वैचारिक लड़ाई है। ठीक उसी तरह जैसे जैनेंद्र द्वारा रचे गए 'स्त्री संवेदी' रचनाकार होने का कुहासा छांट कर अज्ञेय सही मायनों में स्त्री-मानस और पितृसत्ता की भीतरी तहों में प्रवेश कर जाते हैं, जबकि हजारीप्रसाद द्विवेदी परिधि पर ही सहानुभूति की जादुई छड़ी हाथ में लिए उछल-कूद करते रह जाते हैं; और यशपाल अपनी बेलौस प्रखरता और संसाधनविहीन सादगी के साथ स्त्री से संवाद करने लगते हैं। यह ठीक वही प्रवृत्ति है जो आज के कथा-साहित्य में तरुण भटनागर, अमित ओहलाण, शिवेंद्र में ओज भरी रचनात्मक चुप्पियों के साथ दिखाई देती है।

चूँकि स्त्री के पास अमूमन 'मैं' का अतिरिक्त दंभ और भार नहीं होता, इसलिए 'मैं' को छोड़कर वह निर्भर होना भी जानती है, और दूसरे के 'मैं' में अपना अक्स देख उस 'मैं' का विस्तार करना भी जानती है। मातृत्व के जैविक गुण ने उसे इतना लचीला बनाया है। यही गुण सहानुभूति को समानुभूति में बदलता है। इसलिए मैं कहना चाहूंगी कि जब पुरुष में स्त्री का यह गुण आ जाता है तब वह महात्मा बने या न बने, अपने प्रखर चिंतन की लौ जगाकर ऊंचे दर्जे का दार्शनिक या क्रांतिकारी या चिंतक जरूर बन सकता है। लेकिन स्त्री यदि अपनी इस सहजात गुणवत्ता में विश्लेषण, आलोचनात्मक मूल्यांकन और निर्भीक ईमानदारी का अतिरिक्त गुण न गूंथे तो परंपरा के निर्वहन की कमजोर कड़ी भी बन सकती है; और सीता-द्रौपदी की तरह अपने विद्रोह की फुंफकार के साथ स्वयं को जर्मीदोज करते हुए व्यवस्था को ही पुष्ट कर सकती है। चिंतन-प्रवर बौद्धिकता में संवेदनशीलता का गुण जुड़े बिना स्त्री एवं पुरुष दोनों का लेखन अपने-अपने अर्धवृत्तों की परिक्रमा ही है।

मिश्र- आपने कृष्णा सोबती पर भी लिखा है। उनके लेखन में आप कौन सी विशेषताएं देखती हैं? उन्होंने किन स्तरों पर अपने समय के स्त्री-लेखन की सीमाओं का अतिक्रमण किया ?

अग्रवाल- कृष्णा सोबती के लेखन को विशिष्ट बनाती है उनकी चमकदार भाषा और लच्छेदार अभिव्यक्ति; मानो शब्द नहीं, मोती जड़ दिए हों, और चरित्र नहीं, मानो सोने की मूर्तियां गढ़ दी गई हों। अभिव्यक्ति ऐसी कि कहीं प्रखर वेग से भागती नदी की तरह अपने साथ बहा ले जाए; कहीं ऊंचाई से क्षिप्र गति से गिरते झरने की तरह सम्मोहित कर दे। उनकी कृतियों के पहले पाठ में लगता है कि वे लीक से हटकर कुछ नया कह रही हैं- कहानियों में नहीं, उपन्यासों या लंबी कहानियों/लघु उपन्यासों में। उनकी कहानियां दरअसल उनके लेखन के प्रारंभिक काल की रचनाएं हैं- हाथ आजमाने/प्रैक्टिस का अखाड़ा जहां भावविह्वलता है, चमत्कार है, परिवर्तन है और पच्चीकारी का धूम धड़ाका है। कृष्णा सोबती भावनाओं के संग बहती नहीं, किनारे बैठ भावनाओं को अपनी उंगली के इशारे पर नचाती हैं। इसलिए 'मित्रो मरजानी' में स्त्री के काम-सुख/अधिकार की बात करते-करते वे यूटर्न लेकर विवाह संस्था की नैतिक आचार-संहिता के भीतर नायिका का विजयी मुद्रा में ठसकेदार प्रवेश करा देती हैं; 'सूरजमुखी अंधेरे के' में बलात्कार के विरोध में स्त्री-स्वर बुलंद करते-करते वह यौन-फ्रिजिड नायिका रत्ती के ऑर्गेज्म और शहादत का महिमामंडन करने लगती हैं; 'ऐ लड़की' में अम्मू स्मृतिजीवी आत्मकेंद्रित आत्ममुग्ध स्त्री का रूप धरने लगती है जो पुत्री का उद्बोधन करते-करते कहीं उसे पितृसत्ता की लक्ष्मण रेखाओं में भी बांध लेना चाहती है। ठीक यही बात 'दिलो दानिश' के लिए भी कही जा सकती है जहां कुदंबप्यारी, महक बानो, छन्ने बुआ जैसी यादगार स्त्रियां तो हैं, पर उनके विद्रोह, संघर्ष या कुटनीपन में पितृसत्ता का अतिक्रमण करके वैचारिक इकाई के रूप में उभरने का जज्बा नहीं। आप कह सकते हैं, इतना कठोर मूल्यांकन अपनी पूर्वजों के प्रति अन्याय करना है; कि वह स्त्री-विमर्श का युग नहीं था। अतः आज की अपेक्षाओं के साथ पुराने रचनाकारों के पास नहीं जाना चाहिए। लेकिन जब मैं रवींद्रनाथ टैगोर या यशपाल या उग्र या अज्ञेय के पास स्त्री को मनुष्य समझने की वैचारिक प्रौढ़ता और मनुष्यता पा सकती हूं तो क्यों अपनी अपेक्षाओं का दायरा न बढ़ाऊं?

मिश्र- कहानी की स्त्री-दृष्टि की बात तो बहुत होती है पर मैं आपसे यह जानना चाहता हूं कि 'आलोचक की स्त्री दृष्टि' के क्या मायने हैं? आलोचना में यह दृष्टि कैसे काम करती है?

अग्रवाल- एक आलोचक की स्त्री-दृष्टि कहानीकार से भिन्न कई स्तरों पर निरंतर विश्लेषणशील एवं सृजनशील बनी रहती है। उसे रचना के विषय के अनुरूप एक स्वायत्त, सजग, नागरिक चेतना के साथ अपने समय की शिनाख्त भी करनी है, और समय को बनाने वाली समकालीन-ऐतिहासिक स्थितियों-मनोग्रंथियों की पड़ताल भी करनी है। एक विकसित भावबोध और परिपक्व वैचारिक चेतना आलोचक को सामान्य पाठक से भिन्न करती है जिसका लक्ष्य महज कृति का रसास्वादन नहीं है, बल्कि कृति एवं समय दोनों को एक परिप्रेक्ष्य देना भी है। आलोचक की स्त्री-दृष्टि स्त्री की पराधीनता का शास्त्र रचने वाली तमाम संस्थाओं, ग्रंथों और सांस्कृतिक संस्थाओं से टकराते हुए स्त्री व पुरुष दोनों को जब पितृसत्ता के गुलाम की हैसियत में पाती है तो दोनों की मुक्ति हेतु समान रूप से सक्रिय होती है। उसका व्यापक गहन भावबोध उसकी अपेक्षाओं का दायरा बढ़ाता है, साथ ही उसके दायित्वबोध का भी। इसलिए कृति में निष्क्रिय सहानुभूतिवर्षण और समानुभूति के स्तर पर संवेदनात्मक उन्नयन का बारीक फर्क उसे समझना होता है। यह बारीक फर्क दरअसल लेखक की भीतरी मनोग्रंथियों पर उसकी पकड़ को भी दर्शाता है, क्योंकि लेखक शून्य से उपजने वाली यूटोरियन इकाई नहीं, वह इसी

समाज और समय की टकराहट से बनी एक वैचारिक-संवेदनात्मक ऊर्जा है जिसके निजी सपने-अंतर्दृष्टि हैं, तो अपनी सीमाएं-संकीर्णताएं भी। लेखन इन्हीं सीमाओं और सपनों के बीच फंसाव और अतिक्रमण की जद्दोजहद का परिणाम है। इसलिए स्त्री-दृष्टि से साहित्यिक कृतियों का पाठ करते समय न केवल पुरुष रचनाकारों की परंपरापोषित स्त्री-द्वेषी दृष्टि प्रत्यक्ष होती है, बल्कि स्त्री रचनाकार भी स्त्री को दोयम दर्जे की प्राणी माने जाने के संस्कार से ग्रस्त दिखाई देती हैं। फलतः पुरुष निर्भरता उनकी नायिकाओं की तमाम जद्दोजहद को व्यर्थ साबित कर देती है। यहां मैं यह भी कहना चाहूंगी कि आलोचक जज नहीं है कि दूसरों का मूल्यांकन-विश्लेषण करता फिरे। कृति एवं समय के विश्लेषण की प्रक्रिया के दौरान चूंकि वह स्वयं अपनी सीमाओं और संभावनाओं की चौहद्दियों के बीच चहलकदमी करता है, अतः आलोचना-कर्म यानी सृजन के दौरान उसकी दृष्टिगत सीमाएं और बोधपरक संभावनाए स्पष्टतर होती चलती हैं। एक अच्छी आलोचना न केवल समय का सघन पाठ है, वह कृति के जरिए कृतिकार और उसके समाज के मनोविज्ञान का भी पुनराविष्कार करती है, और स्वयं एक वैचारिक इकाई के रूप में अपने को आगामी पीढ़ी के मूल्यांकन हेतु प्रस्तुत करती है।

मिश्र- आपने न सिर्फ 'आलोचना के पाठ' को नयी भंगिमा दी है बल्कि कहानी आलोचना की भाषा को एक सर्जनात्मक पहचान दी है। एक 'स्त्री के रूप में' आप समकालीन कथा आलोचना के परिदृश्य को किस तरह देखती हैं?

अग्रवाल- समकालीन कथालोचना का स्त्री-परिदृश्य जितनी संभावनाओं से भरपूर है, उतना ही चुनौतीपूर्ण भी है। समाज की विभिन्न संस्थाओं और क्षेत्रों की भांति साहित्य भी स्त्री की उपेक्षा करता चला आया है। सदियों से। स्त्री का मनमाना चित्रण! और स्त्री को लेकर रूढ़ विकृत छवियों का निर्माण! स्त्री बेशक नकारती रहे उन रूढ़ विकृत छवियों को, लेकिन दुराग्रह इतने प्रबल कि सामने दीख पड़ते सत्य के बावजूद उन्हीं का वानरी मोह! इसीलिए सृजनात्मक लेखन से भी ज्यादा जोखिम का काम है विचारात्मक-आलोचनात्मक लेखन जो पूर्वाग्रहों की शिनाख्त करके उनसे टकराने का माद्दा भी रखता हो और अकेले अपने दम जंग लड़ने का जज्बा भी पालता हो। विश्व की सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना में स्त्री सॉफ्ट टारगेट है और सॉफ्ट स्किल्स के साथ जोड़कर उसे एक स्वायत्त क्षेत्र भी दिया गया है ताकि घर की चारदीवारी की तरह उसे भी अपनी परिधि मान कर वह वहीं अपना हुनर-आकांक्षाएं व्यक्त करके व्यस्त रह सके। इसलिए सृजनात्मक साहित्य की स्त्री रचनाकारों से साहित्यिक जगत के (पुरुष) पुरोधाओं को परहेज नहीं। अलबत्ता बुद्धि-विश्लेषण-तर्क प्रधान क्षेत्र में कदम रखने वाली स्त्री की उपस्थिति से वह बौखला उठता है, याज्ञवल्क्य की भांति। स्त्री की निर्भीक हुंकार, तर्काश्रित विश्लेषण-क्षमता और परंपरा का नकार उसे आज भी स्वीकार्य नहीं। स्त्री-लेखन चूंकि परंपरा को प्रश्नचिन्हित करने की साधना है, अतः स्त्री आलोचक को आग के दरिया में सिर पर कफन बांध कर कूदना है। साहित्य पुरोधाओं से स्वीकृति, सराहना और समर्थन की आकांक्षाएं उसे बहेलिए के उसी अदृश्य जाल में कैद कर देंगी जिस की पकड़ से छूटने के लिए उसने कलम उठाई है। मौजूदा दौर में कुछ स्त्री आलोचक शिद्दत से आलोचना-कर्म में लगी हुई हैं। लेकिन आलोचना-कर्म देगची में पकता भात नहीं कि एक दाना देखकर तुरंत किसी निर्णय पर पहुंचा जा सके।

मिश्र- जितनी मेहनत आलोचक करता है क्या उसका परिणाम उसे कभी मिल पाता है? आज लेखकों को सबसे अधिक शिकायत आलोचना से ही क्यों है ?

अग्रवाल- आलोचक साहित्यिक अखाड़े में टंगा पंचिंग बैग है। जो भी चाहे आए, और अपनी मुट्ठियों को मजबूत बनाने के लिए उसकी पिटाई कर जाए। इस बिंब को दूर तक ले जाऊं तो आलोचक की दयनीयता पर हाहाकार और लेखक के शिकायती प्रहारों पर वाह-वाह नहीं करूंगी, बल्कि कहूंगी कि इतने भीषण प्रहारात्मक आघातों के बावजूद आलोचना का टिके रहना, और लाख तिरस्कार/शिकायतों के बावजूद सृजनकर्मी रचनाकारों का अपनी कृति के मूल्यांकन/प्रोमोशन हेतु आलोचना की ओर निहारना, आलोचना की भीतरी ताकत को ही दर्शाता है। विडंबना यह है कि आलोचक को न प्रशंसा मिलती है, न स्वायत्त रचनाकार के रूप में पहचान। वह तो दसियों किताबें लिखने के बावजूद 'लेखक' भी नहीं कहा जाता। अलग से 'आलोचक' का टैग थमा कर उसे सवर्णों की बिरादरी से बाहर बैठा दिया जाता है।

मिश्र- हिंदी कहानी के स्त्री मुद्दों पर मृदुला गर्ग के लेखन को लेकर खूब चर्चा हुई। एक कहानीकार के रूप में आप उन्हें किस रूप में मूल्यांकित करती हैं?

अग्रवाल- मृदुला गर्ग हमारे समय की सर्वाधिक महत्वपूर्ण कहानीकार हैं। हालांकि वह स्त्री लेखन जैसी किसी कोटि को नहीं स्वीकारतीं, लेकिन स्त्री-प्रश्नों को लेकर उन जैसी पैनी एवं संवेदनशील दृष्टि आज प्रायः नहीं मिलती। वह पितृसत्ता की दमघोंटू हवेली के बीच हवाओं में तैरती स्त्री की घुटन भरी चुप्पियों और सूख गए आंसुओं को महसूसती हैं, और उस में आत्मनिर्भर, आधुनिक, चेतनसंपन्न स्त्री के विकसित भावबोध को जोड़कर जब विश्लेषण करती हैं, तब चुप्पियां और कराहें पुरानी केंचुल छोड़ अपने को परखने का धारदार औजार बन जाती हैं। मृदुला गर्ग की स्त्री प्रताड़ित और बेचारी बनने से इंकार करती है। उसके पास विवेक, आत्मसम्मान और दृढ़ता की पूंजी है, जिसे वह निजी फायदे (आत्मोन्नयन) में लगाकर जाया नहीं करती, बल्कि जनचेतना का रूप देकर बृहत्तर मनुष्य समाज से जुड़ जाना चाहती है। मृदुला गर्ग के लेखन की विशेषता है कि वहां कुछ भी कृत्रिम या आरोपित नहीं दिखता। बौद्धिकता है, पर उसकी जड़ें गहरी संवेदना की तरलता में हैं। चरित्र अपनी भीतरी हलचलों और मंथन से स्वयं अपना विकास करते चलते हैं। वर्जनाओं से भय नहीं, बल्कि आग से खेलने का जज्बा मृदुला गर्ग की कहानियों की स्त्री को विशिष्ट बनाता है जिसे 'कठगुलाब' उपन्यास में तमाम वैचारिक ऊंचाई के साथ देखा जा सकता है।

मिश्र- मैं अर्चना वर्मा जी के बारे में आपसे जरूर पूछना चाहूंगा क्योंकि कहीं न कहीं संकोच में ऊर्होंने अपने कहानीकार को हमेशा छिपाए रखा जबकि हिंदी की कहानियों को जतन से पढ़ने और कहानीकारों को सामने लाने में उनका महत्व असंदिग्ध है । ऐसी मेहनती और पठनशील रचनाकार हमारे पास कम हैं। आप अर्चना वर्मा को किस रूप में याद करती हैं?

अग्रवाल- अर्चना वर्मा बहुत ही मेहनती और दृष्टि संपन्न संपादक रही हैं। दो कहानी संग्रह भी हैं उनके, दो कविता संग्रह और 'अस्मिता विमर्श का स्त्री स्वर' शीर्षक से विमर्शवादी आलोचना पुस्तक भी। उनकी कहानी 'जोकर' मेरी सर्वाधिक पसंदीदा कहानी है और उनके कहानीकार पर मैं अपनी पुस्तक 'वक्त की शिनाख्त और सृजन का राग' में विस्तृत बात कर भी चुकी हूं- 'अंधेरे तहखानों में छुपे आलोक-वृत्त' शीर्षक के तहत। उनकी कहानियों में बौद्धिकता और सरोकारों की महीन पड़ताल अनायास दिखाई पड़ती है, जो कहानियों की बुनावट को संश्लिष्ट ही नहीं करती, पाठक के रूप में बेहद संवेदनशील अध्येता की मांग भी करती है। दरअसल ऐसा गझिन लेखन बहुत कम लोगों के पास मिलता है जो द्राक्षारस की तरह अपने आप मुंह में न बहे, बल्कि संवाद की प्रक्रिया में समय और समाज की पड़ताल का संवेदनात्मक विवेक विकसित करता चले। आज जिस परिमाण में स्त्री-रचनाकारों की कहानियां सामने आ रही हैं, उनमें ऐसी गहन वैचारिक तैयारी के साथ समय का अतिक्रमण करने की व्यग्रता दिखाई नहीं देती। कहानी विधा के उन्नयन के लिए उसमें संवेदना को विवेक एवं विचार का आधार देना बहुत जरूरी है, वरना वह भावनात्मक खिलवाड़ में रिड्यूस हो सकती है जिसे आज यहां-वहां देखा भी जाने लगा है।

मिश्र- अर्चना जी के बाद मन्नू भंडारी जी पर आते हैं। मन्नू भंडारी के लेखन की सबसे जरूरी बात आप क्या मानती हैं?

अग्रवाल- जी, मन्नू भंडारी का उपन्यास 'महाभोज' नाट्य-रूपांतरण की वजह से खासा चर्चित रहा है। 'आपका बंटी' उपन्यास सत्तर के दशक में तलाकशुदा स्त्री के हौसले और आत्मनिर्भरता के कारण भी पाठक समाज को चौंकाने और सम्मोहित करने का सबब बना। लेकिन मैं यह मानती हूं कि मन्नू भंडारी आज भी अपनी कहानियों की वजह से ज्यादा जानी जाती हैं। यही सच है, अकेली, नशा, त्रिशंकु, नई नौकरी, बंद दराजों का साथ- कितनी ही कहानियां एक के बाद एक जेहन में

आती चलती हैं। उनकी कहानियों को उनकी रचना के कालखंड के बीचोबीच रख कर देखूं तो वह महानगरीय परिवेश की आत्मनिर्भर शिक्षित कामकाजी स्त्री की छवि गढ़ती हैं जो घर-बाहर दोनों जगह दोहरे शोषण की शिकार है। चूंकि वह चेतन है, इसलिए घर में पति/पितृसत्ता के अंकुश को सहन नहीं कर पाती। वह स्त्री आत्मावलोकन करने का साहस रखती है। अपनी दुर्बलताओं और अंतर्विरोधों से खूब परिचित है, लेकिन प्रतिरोध का हौसला उसके पास नहीं। इस दुर्बलता के कारण मन्नू भंडारी की कहानियाँ स्त्री-संघर्ष का अतिरिक्त आयाम नहीं जोड़ पातीं। बस, स्त्री की घुटन शिकायती स्वर में रिड्यूस होकर रह जाती है, या जहां संबंध-विच्छेद के बाद वह पुनर्विवाह कर नई जिंदगी का स्वप्न देखती हैं, वहां पुरुष की उन्हीं श्रेष्ठता ग्रंथियों और स्त्री की सहजात अंतर्विरोधपरक दुर्बलताओं के कारण पुनः दांपत्य विघटन के उसी दुश्चक्र में जा फंसती हैं। ये कहानियां त्रासद प्रभाव उत्पन्न करती हैं और निष्कवच स्त्री की निष्क्रियता को रेखांकित करती हैं। ओज और प्रतिरोध जैसे जरूरी तत्वों की अनुपस्थिति इन कहानियों में बराबर बनी रहती है।

मिश्र- हिंदी की ऐसी कई महिला कथाकार हैं जिन्होंने कहानियों की भूमि से आगे बढ़कर उपन्यास की भूमि में प्रवेश किया और आगे चलकर उपन्यासकार के रूप में स्थापित हुईं, फिर वह नासिरा शर्मा हों, ममता कालिया हों, मैत्रेयी पुष्पा, चित्रा मुद्गल, गीतांजलि श्री, अलका सरावगी आदि हों। ऐसे में इनका कहानी लेखन या तो पीछे छूट गया या उसका मूल्यांकन उस तरह से नहीं हुआ जिस तरह से होना चाहिए था? इस सन्दर्भ में आपका क्या मानना है?

अग्रवाल- ऐसा नहीं है कि आपने जिन कथाकारों के नाम गिनाए हैं, उनके कृतित्व का उचित मूल्यांकन नहीं हुआ; बल्कि सत्य तो यह है कि उन पर इतना अधिक लिखा गया है और विश्वविद्यालयों के शोध परिमाण का तो हाल ही न पूछिए। आज भी नई किताब आते ही स्वागत में पलक पांवडे बिछा दिए जाते हैं। हां, यह सच है कि उनकी इस 'उपन्यास-दौड़' में जिस रफ्तार से कहानी हाशिए पर गई है, उसी रफ्तार से उनकी पहचान और चर्चा भी उपन्यास केंद्रित होती गई है। तकनीक ही अपनी आने वाली हर बेहतर नई तकनीकी रचना को नहीं निगलती, बल्कि मैं यह कहने में गुरेज नहीं करूंगी कि इन रचनाकारों के उपन्यासों ने इनके कहानीकार को निगल लिया है। ममता कालिया की 'बोलने वाली औरत', गीतांजलि श्री की 'बेलपत्र', अलका सरावगी की 'आक एगारसी' बहुत बेहतर कहानियां हैं, और उन पर चर्चा भी होती रहती है। लेकिन शॉर्टकट के इस दौर में आज लेखक को किसी एक विधागत पहचान के साथ नत्थी करने का चलन बढ़ गया है। जैसे आलोचकों के कहानीकार-कवि व्यक्तित्व को दृष्टि ओझल कर दिया जाता है। नासिरा शर्मा के 'जहां फव्वारे लहू रोते हैं' जैसे नॉन फिक्शनल संजीदा लेखन को ज्यादा याद नहीं किया जाता। अलबत्ता कुछ रचनाकारों को उनकी समग्र रचनाधर्मिता के साथ याद भी कर लिया जाता है जैसे अज्ञेय, प्रसाद, विनोद कुमार शुक्ल और अनामिका।

मिश्र- इन लेखिकाओं के समानांतर आज की कहानी लेखिकाओं को देखता हूं तो मुझे महसूस होता है मानो यहां उपन्यास लिखने की होड़ मची हुई है। एक जल्दबाजी है। ऐसा लगता है मानो 'उपन्यास' सहज लेखन की उपज नहीं, साहित्यिक महत्वाकांक्षा की उपज हैं? आप इस प्रवृत्ति को किस रूप में चीन्हती हैं?

अग्रवाल- ठीक कहा आपने, इन दिनों सब जल्दी में हैं। हड़बड़ी है कहीं पहुंचने की। मालूम नहीं कहां। शोहरत भागते घोड़े के सामने लटकती गाजर की तरह है जिसे हासिल कर ही लेना है। उपन्यास विधा में प्रवेश करने से पहले, हाथ मांजने जैसी तैयारी होनी चाहिए उसका अभाव देखती हूँ। कहानी हो या उपन्यास; दोनों विधाओं का फॉर्मेट अलग है और अंतर्निहित अपील भी, इसलिए आज डेढ़ सौ-दो सौ पृष्ठों के बीच फैले जो उपन्यास लिखे जा रहे हैं, उनके ब्यौरों को निकाल दें तो वे अपनी मूल योजना में कहानी से अधिक कहीं नहीं। उपन्यास, कहानी के विपरीत, एक युग की साक्षी कथा है। वह कहानी की तरह किसी एक विशिष्ट क्षण, घटना या चरित्र के साथ बंधा नहीं होता, बल्कि समय को दर्ज करने की गंभीर धीरता में समय की अंदरूनी परतों की शिनाख्त करता चलता है जो समय और स्थितियों के विकास क्रम को एक तार्किक और आंतरिक लय के साथ उघाड़ता चलता है।

कहानी के केंद्र में बेताबी रहती है; गीति रचना सरीखी व्यग्रता और दुलक पड़ने की चंचलता भी। उपन्यास समंदर है। उसे कहीं नहीं जाना। उसकी लहरों के नाद में समय का इतिहास बंद है और आकर्षण भी। विडंबना है कि आज लेखन समय के साथ संवाद की व्यग्रता न रहकर समय की नोटबुक को गर्वोन्नत भाव से ऑटोग्राफ देकर उपकृत करना है। इसलिए रचनाकार के समग्र मूल्यांकन की कौन कहे, आज तो एक कहानी, एक रचना या उपन्यास के एक अंश पर ही बात करने की व्यावसायिकता उभर आई है।

मिश्र- समकालीन कहानी परिदृश्य में फिलहाल सुधा अरोड़ा का ध्यान मुझे आ रहा है (और भी नाम जरूर होंगे) जिन्होंने कहानियों की लेक छोड़ी नहीं। उनके स्त्री- लेखन और कहानी लेखन की शिनाख्त आप किस रूप में करती हैं?

अग्रवाल- जी, सुधा अरोड़ा ने कभी कहानियों की जमीन को नहीं छोड़ा। वह आज भी उसी लीक पर चलते हुए स्त्री के दुख-दर्द, आंसू-तकलीफ की कथा लिख रही हैं जिस पर चल कर 'महानगर की मैथिली' जैसी यादगार कहानी रच पाईं। मैं याद करती हूं तो पाती हूं, मैंने यह कहानी कॉलेज के दिनों में धर्मयुग या साप्ताहिक हिंदुस्तान में पढ़ी थी- 70 के दशक में। लेकिन उसके बाद समय बहुत तेजी से बदला है। स्त्री के आंसुओं को उसके भीतर की संघर्षमयी आग ने प्रतिस्थापित कर लिया है। बेशक वह पितृसत्ता की विक्टिम है आज भी, लेकिन अब उसने पितृसत्ता को पहचान कर प्रश्नांकित करना शुरू कर दिया है। बैकफुट पर रहकर संघर्ष की बागडोर हाथ में नहीं ली जा सकती। ले ली जाए तो आकाश को चीरती दिशाओं

पर चढ़ाई नहीं की जा सकती। सुधा अरोड़ा की कहानियों में करुणा का स्वर आम पाठक के लिए संवेदनात्मक अपील का वृहद घेरा तैयार करता है, लेकिन संघर्षशील जुझारू स्त्री-छवि को वह कमजोर भी करता है। इसे आप उनकी कहानियों 'उधड़ा हुआ स्वेटर' और 'प्रेत बोलते हैं' में भी देख सकते हैं। हां, उनके संपादन में तैयार दो कृतियों को मैं स्त्री-विमर्शपरक लेखन में महत्वपूर्ण हस्तक्षेप की संज्ञा देती हूं। ये पुस्तकें हैं- 'पंखों की उड़ान' और 'दहलीज को लांघते हुए'।

मिश्र- आपने कहीं लिखा है कि स्त्री-पुरुष संबंध की पुनर्रचना के लिए पितृसत्तात्मक व्यवस्था के मौजूदा ढांचे को पूरी तरह ध्वस्त करना अनिवार्य है। मेरा सवाल है कि किन औजारों से इस पितृसत्तात्मक व्यवस्था के ढांचे को ध्वस्त किया जा सकता है?

अग्रवाल- मैं नहीं जानती पितृसत्ता के मौजूदा ढांचे को पूरी तरह ध्वस्त किया जा सकता है या नहीं! हां, इतना जरूर चाहती हूं कि संवेदनात्मक एवं आलोचनात्मक विवेक के साथ पितृसत्ता का पुनरीक्षण अवश्य किया जाए। जो व्यवस्था धर्म और राजनीति, न्याय और मीडिया का संबल पाकर मनुष्य को जेंडर में, जेंडर को श्रेष्ठता-हीनता की बायनरी में विघटित करती है, वह मनुष्य की गरिमा और अस्मिता के कल्याण के लिए कभी कार्यरत नहीं हो सकती। इसलिए तमाम तरह की सत्ताएं आज सिर्फ अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति में लिप्त हैं। मनुष्य उनके लिए वोट है, सिर है, मोहरा है, गिनीपिग है, उपभोक्ता है, या काठ का उल्लू है। मनुष्य को बांटने और उस पर हुक्म चलाने का लक्ष्य ही सत्ता का अंतिम मुकाम है। इसलिए मैं चाहती हूं कि अपनी आजादी (मुक्ति) के लिए स्त्री-पुरुष दोनों को समान भाव से मनुष्य को पराधीन बनाने वाली आर्थिक-सांस्कृतिक संरचनाओं को समझना और फिर टकराना होगा।

शिक्षा, मार्क्सवादी विचारधारा और रोजगार के अवसरों ने स्त्री की आर्थिक आत्मनिर्भरता को संभव बनाया है और अपने स्वार्थों के चलते ही सही, दकियानूसी परिवारों ने भी कामकाजी स्त्री की सत्ता को स्वीकारा है। स्त्री-पुरुष की मुक्ति में सबसे बड़ी बाधा मैं धर्म का अयाचित हस्तक्षेप समझती हूं। कैसी विडंबना है कि हम आज भी धर्म के अतार्किक चंगुल से मुक्त नहीं हो पाए हैं। मनुस्मृति पढ़ जाइए, यज्ञ,पूजा, श्राद्ध, तर्पण से लेकर विवाह, जाति, स्त्री-धर्म और पुरुष वर्चस्व का खौलता अहंकार वहां जिस रूप में है, वह आज भी हमारे मानस-परिवार-समाज को वर्जना, संस्कार, आचार, भक्ति के नाम पर जकड़ रहा है। मैं नहीं जानती कि क्यों शिक्षित स्त्री-पुरुष समुदाय रीति-त्योहार के नाम पर आज भी करवा चौथ और रक्षाबंधन को पुराने पारंपरिक तरीके से मना रहा है। इन दोनों त्योहारों का पारंपरिक रूप स्त्री की पराधीनता का ड्राफ्ट सुनिश्चित करता है। पुरुष रक्षक; स्त्री रक्षणीया; पुरुष आत्मनिर्भर सूर्य सरीखा, स्त्री पुरुष-निर्भर इकाई, चांद सरीखी जिसके पास अपनी अस्मिता, विचार, भाषा का प्रकाश तक नहीं। जब तक पितृसत्ता के वर्चस्व को बनाने वाली इन सांस्कृतिक संरचनाओं को चुनौती देकर इन्हें संबंधों में समानता, सौहार्द, विश्वास रचने वाली पारस्परिकता का रूप नहीं दिया जाएगा, स्त्री हीन-पराधीन इकाई के रूप में, और पुरुष श्रेष्ठ सबल इकाई के रूप में अपनी भास्वर अस्मिता से हीन किए जाते रहेंगे। विवेकपूर्ण आलोचनात्मक दृष्टि, संवेदना का विस्तृत दायरा और पूर्वाग्रहों को धता बता कर सिर पर कफन बांधने की वैचारिक तैयारी जब मनुष्य अर्जित कर लेगा, तब लैंगिक अवधारणाओं में जकड़ी अपनी अस्मिता को स्वयं ही रिहाई दे देगा। हां, अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। इसलिए इस वैचारिक लड़ाई में सबको साथ आना होगा, और समझना होगा कि सबकी मुक्ति में ही अपनी मुक्ति की कुंजी है।●

स्त्री-लेखा

का आगामी अंक

स्त्री नवजागरण
के प्रश्न और
लेखकों की स्त्री दृष्टि

वार्षिकांक
स्त्री साहित्य वार्षिकी

निराला की प्रेरणाः प्रिया मनोहर

क्या मनोहरा देवी अपने पति निराला से अधिक हिंदी जानती थी?

आपको मालूम होगा कि हिंदी के प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक रामविलास शर्मा ने ''निराला की साहित्य साधना'' जैसी ऐतिहासिक किताब तीन खण्डों में लिखी थी जिस पर उन्हें साहित्य अकेडमी पुरस्कार भी मिला था। तीन खण्डों में प्रकाशित निराला की उस जीवनी में मनोहरा देवी का जिक्र तो मिलता है। लेकिन उनके बारे में बहुत विस्तृत जानकारी नहीं मिलती। निराला का विवाह कम उम्र में हो गया था और उनकी पत्नी का महामारी के कारण अल्पायु में ही निधन हो गया था लेकिन उनके बारे में लोगों को अधिक नहीं पता। उनके प्रपौत्र विवेक निराला ने अपनी परदादी पर मनोयोग से लिखा है। विवेक खुद भी एक सुपरिचित कवि भी हैं। आपको उनके इस लेख में मनोहरा देवी के बारे में रोचक जानकारी मिलेगी पर दुर्भाग्य से उनकी एक भी तस्वीर उपलब्ध नही है। यहां तक कि सरोज की भी कोई तस्वीर नहीं हैं। अगर निराला की पत्नी और बेटी अधिक समय जीवित रहती तो कोई फोटो जरूर उपलब्ध होता। खैर, हम बिना फोटो के यह लेख दे रहे हैं। आप इसे जरूर पढ़िए-

विवेक निराला
viveknirala@gmail.com
09415289529

निराला ने अपनी प्रिया, पत्नी मनोहरा देवी के बारे में लिखा है- ''जिसकी हिन्दी के प्रकाश से, प्रथम परिचय के समय, मैं आंखें नहीं मिला सका, लजाकर हिन्दी की शिक्षा के संकल्प से कुछ काल बाद देश से विदेश पिता के पास चला गया था, और उस हिन्दी-हीन प्रान्त में बिना शिक्षक के 'सरस्वती' की प्रतियां लेकर पद-साधना की, और हिन्दी सीखी थी; जिसका स्वर गृहजन, परिजन और पुरजनों की सम्मति में मेरे; संगीतज्ञ स्वर को परास्त करता था; जिसकी मैत्री की दृष्टि क्षण-मात्र में मेरी रुक्षता को देखकर मुस्कुरा देती थी, जिसने अंत में अदृश्य होकर, मुझसे मेरी पूर्ण परिणीता की तरह मिलकर, मेरे जड़ हाथ को अपने चेतन हाथ से उठाकर दिव्य श्रृंगार की पूर्ति की, वह सुदक्षिणा स्वर्गीया प्रिया प्रकृति दिव्यधामवासिनी हो गई।''

उ०प्र० के रायबरेली जनपद के डलमउ में पं० रामदयाल द्विवेदी एवं पार्वती देवी की सुपुत्री मनोहरा देवी से निराला का विवाह सन् 1910 में हुआ था। विवाह के दो वर्ष बाद, जब निराला सोलह के नज़दीक पहुंच रहे थे और लोग कहने लगे थे कि 'कण्ठ फूट आया, मसें भीगने लगीं; बगलें निकल आईं, अब गौना कर देना चाहिए' तो निराला का गौना कर दिया गया। मनोहरा देवी का व्यक्तित्व बेहद निश्छल और स्नेहमय था, उनके भीतर गांभीर्य के साथ एक विशिष्ट शीतलता थी।

निराला अपनी सासजी से मनोहरा के सुमधुर कण्ठ की तारीफ़ सुन चुके थे। एक दिन अवसर आ ही गया। मजलिस लगी, ढोलक बजने लगी। मनोहरा देवी ने भजन गाया, वह भी तुलसीदास का प्रसिद्ध गीत- 'श्रीरामचंद्र कृपालु भजु मन हरण भवभय दारुणम्।' निराला के साथ-साथ सारे लोग सांस रोक कर सुनने लगे। 'कन्दर्प अगणित-अमित-छवि-नवनील- नीरज- सुन्दरम' की जगह जान पड़ने लगा, गले में मृदंग बज रहा है। तुलसीदास की शब्द-योजना और मनोहरा देवी के मधुर गान ने निराला को गहरे प्रभावित किया। मनोहरा के मनोहर कण्ठ से तुलसीदास का यह छन्द सुनकर निराला के भीतर सोये संस्कार जाग उठे। बंगला मातृभाषा और बंगला साहित्य से बाहर हिन्दी का साहित्य इतना सुन्दर और ललित है, बंगला संगीत से अलग यह संगीत इतना सुमधुर एवं आकर्षक है, निराला ने शायद पहली बार जाना। अब जैसे एक नया संसार निराला के सामने था। बंगला भाषा और बंगला संस्कृति का अभिमान और अपने रूप-सौन्दर्य का दर्प चूर हो गया। निराला को चुनौती मिली-ऐसा ही कुछ गायें, ऐसा ही कुछ रच कर दिखाएं तब जीवन सार्थक हो। मगर, जीवन में न साहित्य की विधिवत् शिक्षा मिली न संगीत की।

निराला को हिन्दी आती न थी। मनोहरा देवी यह अच्छी तरह जानती थीं। निराला को मनोहरा के हिन्दी ज्ञान का पूरा अंदाजा न था। एक दिन बहस हो ही गई। निराला ने पूछा-तुम हिन्दी-हिन्दी करती हो, हिन्दी में है क्या?उन्होंने कहा-जब तुम्हें आती ही नहीं तो कुछ भी नहीं है। निराला ने फिर पूछा-मुझे हिन्दी नहीं आती? मनोहरा ने कहा-यह तो तुम्हारी ज़बान बतलाती है। बैसवाड़ी बोल लेते हो, तुलसी की रामायण पढ़ी है, बस। तुम खड़ी बोली का क्या जानते हो?निराला परास्त हो गए। तब तक उन्होंने खड़ी बोली का तो नाम तक न सुना था। महावीरप्रसाद द्विवेदी, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' तथा मैथिलीशरण गुप्त आदि उनके स्वप्न में भी न थे। मनोहरा देवी हिन्दी के ऐसे धुरन्धरों के तमाम नाम गिना गईं। निराला स्तब्ध रह गए। निराला सचमुच मनोहरा के हिन्दी-ज्ञान के प्रकाश से आंखें न मिला सके। निराला को बात लग गई, हिन्दी नहीं आती। महिषादल में हिन्दी का कोई जानकार नहीं। हिन्दी के नाम पर कोई ब्रज जानता था, कोई अवधी। खड़ी बोली के लिए अड़चन पड़ी। हिन्दी की अपने ज़माने की मशहूर पत्रिकाएं-सरस्वती और मर्यादा मंगाने लगे। सरस्वती लेकर खड़ी बोली का एक-एक वाक्य अंग्रेजी और बंगला व्याकरण से सिद्ध करते। स्वाध्याय और परिश्रम से हिन्दी सीखी। निराला ने लिखा है- ''मैं खड़ी बोली का वाल्मीकि नहीं, पर 'भयो सिद्ध करि उलटा जापू' अगर किसी पर खप सकता है, तो हिन्दी के इतिहास में मात्र मुझ पर।'' निराला की हिन्दी-साधना का प्रतिफल यह हुआ कि गणित के नीरस परचे में पद्माकर के श्रृंगार के सरस कवित्त लिख आने पर एन्ट्रेंस में फेल हो गए और

स्कूल की शिक्षा से मुक्ति मिली।

मनोहरा देवी धार्मिक और शाकाहारी महिला थीं। निराला बंगाल से खाने का भी संस्कार ले कर आये मांसभक्षी। मनोहरा देवी के कहने पर कुछ दिनों मांस खाना छोड़ भी दिया, मगर यह बहुत दिनों तक न चल सका। दुबले हो गए। एक पंडित के यह कहने पर कि 'मांस खाने से कनौजियों को दोष नहीं लगता, उन्हें वरदान है'- निराला ने फिर से खाना शुरू कर दिया। मनोहरा देवी ने उनके मांस वाले बरतन अलग कर दिए, साथ ही शर्त रखी कि जिस दिन मांस खाओ, उस दिन न मुझे छुओ न घर के बरतन।

सन् 1914 में मनोहरा देवी ने अपने मायके डलमउ में पुत्र रामकृष्ण को जन्म दिया और 1917 में अपनी दूसरी सन्तान सरोज को। सन् 1918 आते-आते एनफ्लूएन्जा महामारी के तौर पर फैल गया। मनोहरा अपने मायके में ही थीं। महिषादल में निराला को तार मिला-तुम्हारी स्त्री सख़्त बीमार है, फौरन आओ। मगर, निराला के पहुंचने से पहले ही मनोहरा की चिता जल चुकी थी। फेफड़े कफ़ से जकड़ गए थे। परिवार के कई लोग इस महामारी में गुज़र गए। निराला को गहरा धक्का लगा। इक्कीस-बाइस साल की उम्र, जब विवाहित जीवन कायदे से शुरू होना था, मनोहरा नहीं रहीं। मनोहरा देवी उनकी सच्ची सहयोगिनी थीं। परीक्षा में फेल होने पर पिता से खुद के साथ उन्हें भी अपमानित करा के निकले थे, उनकी नापसंदगी के बावजूद मांसाहार करते थे। मनोहरा कितनी उदार! कभी शिकायत न की और इस युवावस्था में निराला तथा दो छोटे-छोटे बच्चों को छोड़कर चली गईं। सुमधुर कण्ठ, मृदुल स्वभाव, सात्विक सौन्दर्य, और तेजोमय व्यक्तित्व की स्वामिनी मनोहरा के प्रति कितना प्रेम है जैसे निराला को अब मालूम हुआ। एक अपराध-बोध जैसे निरन्तर साथ लगा रहता। निराला गंगा किनारे रात-रात भर श्मशान में घूमा करते जहां मनोहरा देवी की चिता जली थी। निराला ने आत्म-व्यंग्य करते हुए स्वयं लिखा- "मेरा और मेरी दिव्यधामवासिनी धर्मपत्नी का सम्बन्ध पण्डितों ने पत्रा देखकर जोड़ा था, मुझे और उन्हें देखकर नहीं, इसलिए विवाह के पश्चात् मेरी और उनकी प्रकृति ऐसे मिली, जैसे पण्डितों की पोथियों के पत्र एक दूसरे से मिले रहते हैं। वह अखण्ड भारतीय थीं और मैं प्रत्यक्ष राक्षस।"

निराला अपने मां-बाप की इकलौती संतति थे तो मनोहरा देवी भी अपने मां-बाप की इकलौती बेटी थीं। मनोहरा का लालन-पालन बेटे की तरह हुआ था। पिता उन्हें 'राम मनोहर' कह कर बुलाते। मनोहरा के पिता अपनी आधी सम्पत्ति अपने बेटे रामधनी को और आधी अपनी बेटी को देना चाहते थे, किन्तु निराला ने सम्पत्ति न लेने का सुझाव दिया। मनोहरा ने सम्पत्ति लेने से मना कर दिया। आत्म-सम्मान की भावना उनमें भी बहुत थी। महिषादल में बैसवाड़ी परिवार निराला का बड़प्पन स्वीकार करते थे, मनोहरा देवी ने यह बड़प्पन स्वीकार न किया बल्कि हिन्दी का आइना दिखा दिया। निराला को अपनी देह-यष्टि, अपने रूप पर गर्व था, मनोहरा ने अपने सुमधुर संगीत से उनका गर्व चूर कर दिया। निराला हारे, मनोहरा जीतीं।

मनोहरा के न रहने के बाद मनोहरा देवी की मां ने खुद निराला से छोटे बच्चों के हित में दूसरा विवाह कर लेने का आग्रह किया मगर निराला स्वीकार न कर सके। मनोहरा का स्थान कोई और अब ले भी न सकता था। खेलती हुई नन्हीं सरोज को वह जन्म-पत्रिका ही दे दी जिसमें दो विवाह भाग्य में लिखे बताये जाते थे। सरोज ने खेलते-खेलते वह जन्म-पत्रिका ही चिन्दी-चिन्दी कर डाली।

मनोहरा अब भले ही भौतिकरूप से निराला के साथ न थीं, लेकिन निराला के अन्तर्मन में वह सदैव साथ रहीं। समय-समय पर निराला व्यक्त करते रहे- 'रंग गई पग-पग धन्य धरा/हुई जग जगमग मनोहरा।' या उनकी प्रसिद्ध कविता सरोज-स्मृति में प्रसंग आता है कि सरोज को देख कर निराला को वही मनोहर छवि दीखती है- 'श्रृंगार रहा जो निराकार/रस कविता में उच्छ्वसित धार/गाया स्वर्गीया प्रिया संग/भरता प्राणों में राग-रंग।' मनोहरा निराला की प्रेरणा थीं। उनके हिन्दी-ज्ञान के समक्ष नतमस्तक निराला ने हिन्दी सीखी और आधुनिक हिन्दी कविता के 'महाप्राण' बन सके। सरोज को निराला 'जीवित कविते' कहते हैं तो हम भी निराला को मनोहरा की 'मनोहर निर्मिति' कह सकते हैं। ●

निराला अपने मां-बाप की इकलौती संतति थे तो मनोहरा देवी भी अपने मां-बाप की इकलौती बेटी थी। मनोहरा का लालन-पालन बेटे की तरह हुआ था। पिता उन्हें 'राम मनोहर' कह कर बुलाते। मनोहरा के पिता अपनी आधी सम्पत्ति अपने बेटे रामधनी को और आधी अपनी बेटी को देना चाहते थे, किन्तु निराला ने सम्पत्ति न लेने का सुझाव दिया। मनोहरा ने सम्पत्ति लेने से मना कर दिया। आत्म-सम्मान की भावना उनमें भी बहुत थी। महिषादल में बैसवाड़ी परिवार निराला का बड़प्पन स्वीकार करते थे, मनोहरा देवी ने यह बड़प्पन स्वीकार न किया बल्कि हिन्दी का आइना दिखा दिया। निराला को अपनी देह-यष्टि, अपने रूप पर गर्व था, मनोहरा ने अपने सुमधुर संगीत से उनका गर्व चूर कर दिया। निराला हारे, मनोहरा जीतीं।

क्या टॉलस्टॉय ने अपनी पत्नी पर अत्याचार किये थे?

विश्वप्रसिद्ध लेखक लियो टॉलस्टॉय को पूरी दुनिया जानती है लेकिन क्या उनकी पत्नी सोफिया टॉलस्टॉय के बारे में जानती है? शायद नहीं। लियो टॉलस्टॉय केवल महान लेखक ही नहीं बल्कि एक विचारक भी थे और उन्होंने महात्मा गांधी और मार्टिन लूथर किंग जैसी विश्वप्रसिद्ध हस्तियों को भी प्रभावित किया था लेकिन उनके जीवन मे कितने अंर्तविरोध थे और उनका दाम्पत्य जीवन बाद में कितना तनावपूर्ण हो गया था, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती है। जिस सोफिया ने टॉलस्टॉय के विश्वप्रसिद्ध महाकाव्यात्मक उपन्यास 'वॉर एंड पीस' को सात बार अपने हाथों से लिखकर ठीक किया और संपादित किया। रात में वह जगकर मोमबत्ती की रौशनी में वह यह काम करती रही, उस त्यागमयी पत्नी के साथ टॉलस्टॉय ने क्या किया। पढ़िये नेहा अपराजिता का यह लेख-

नेहा अपराजिता

नीलमा नाहीद दुर्रानी ने ये लिखने से पहले कितनी ही औरतों के जीवन को परखा होगा, कितनों के ज़ख्म देखे होंगें, कितनी जगह चुप रही होंगी। बहुत सी औरतों के जीवन की स्थिति एक तरफ कुआँ दूसरी तरफ खाई वाली होती है, वे ना आगे बढ़ पाती हैं ना अपने वर्तमान में संतुष्ट रह पाती हैं, ऐसी ही एक स्त्री के जीवन के बारे में आज हम जानेंगें जिनका नाम है सोफिया टॉलस्टॉय। जी हाँ ये रूस के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार लियो टॉलस्टॉय की पत्नी हैं जिन्होंने टॉलस्टॉय के लगभग सभी उपन्यासों को रात में जग जग कर मोमबत्ती की रौशनी में अपने हाथों से कहपी करती रही और इस तरह प्रतिलिपिकार रहीं हैं जबकि वह स्वयं सोलह वर्ष की आयु से डायरी लेखन करती रहीं। उन्होंने अपने लेखन की जगह पति के लेखन पर ध्यान दिया।

काउंटेस सोफिया अंद्रेएवना टॉलस्टॉय एक सम्पन्न परिवार से थीं इनका जन्म 22 अगस्त 1844 को ओकरग, रूस में हुआ, इनके पिता पेशे से डॉक्टर थे तथा इनके नाना रूस के पहले शिक्षा मंत्री थे। सोफिया का परिचय टॉलस्टॉय से 1862 में हुआ तब वह मात्र अठारह वर्ष की थीं जबकि टॉलस्टॉय 34 वर्ष के थे टॉलस्टॉय और सोफिया में सोलह साल का अंतर था। सितंबर 1862 में टॉलस्टॉय एक लिखित पत्र से प्रेम प्रस्ताव रखते हैं और कुछ दिन बाद उनकी शादी हो जाती है। शादी के हफ्ते भर बाद वे दोनों मॉस्को चले जाते हैं। शादी के दिन ही टॉलस्टॉय सोफिया को अपनी डायरी देते हैं जिसमें उन्होंने ये बात स्वीकार की थी कि विवाह से पूर्व उनके न जाने कितने अवैध संबंध किसान मजदूर औरतों के साथ थे। उनसे बच्चे भी हुए।

टॉलस्टॉय के उपन्यास एना कैरेनिना की प्रारंभिक पंक्तियां हैं कि- 'सभी खुशहाल परिवार एक जैसे होते हैं किंतु प्रत्येक दुःखी परिवार अपने अलग ही तरीके का दुःखी होता है।' टॉलस्टॉय की ये पंक्तियां उनके ही पारिवारिक जीवन का प्रत्यक्ष दर्पण है। सोफिया की डायरी उनके पचास वर्ष से अधिक समय के जीवन को अपने में बुने हुए है, उन्होंने सोच लिया था कि वह अपने उलझन भरे जीवन पर प्रकाश डालेंगी। उन्होंने अपनी डायरी में टॉलस्टॉय को एक निर्दयी और बेहद जटिल इंसान की छवि में रखा है जो कि अपने परिवार के प्रति बहुत उदासीन रहे। उनके तेरह बच्चे थे और टॉलस्टॉय सोफिया को सभी तेरह बच्चों को स्तनपान कराने के लिए विवश करते थे। इसका सोफिया के मानसिक और शारीरिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ेगा उस पर उन्होंने कभी ध्यान नही दिया। परिवार के प्रति

> ''औरत अपना आप बचाए तब भी मुज़रिम होती है
> औरत अपना आप गवांए तब भी मुज़रिम होती है।''

उनका रवैया बेहद आलोचनात्मक था, सोफिया के अनुसार वे सभी उपदेश जो उन्हें उनके पति द्वारा मानवता के सम्मान हेतु दिए जाते थे दरअसल वे उपदेश उनका व्यक्तिगत जीवन उलझा देते थे और उनका जीवन कठिन कर देते थे।

टॉलस्टॉय अपने खानपान से शाकाहारी थे जिसके बारे में सोफिया ने अपनी डायरी में लिखा है कि उनके शाकाहारी होने के कारण उनको दो बार खाना बनाना पड़ता था, दो बार मेहनत करनी पड़ती है और खाने के ऊपर दोहरे खर्चे भी होते थे। उनके धार्मिक और नैतिक विषयों पर दिए प्रवचन ने उन्हें अपने ही परिवार के प्रति उदासीन बनाये रखा जिससे पारिवारिक जीवन में हस्तक्षेप होता रहा। टॉलस्टॉय ने संसारिक वस्तुओं का परित्याग सा कर दिया जिससे दूसरे उन्हें कम पसन्द आते थे और वे एक अंतहीन आलोचक बनते गये। सोफिया ने अपनी डायरी में ऐसी तमाम गम्भीर बातें लिखी हैं, आगे वे यसनाया पोलयाना के किस्से बताती हुए लिखती हैं कि अक्टूबर 1899 की बात है - एक बार टॉलस्टॉय बिना बताये ही सैर पर निकल गए, उस वक्त वे सर्दी जुखाम से पीड़ित भी थे। उनके जाने के बाद तेज़ तूफ़ान आ गया। बारिश और बर्फ़बारी हुई, पेड़ और घरों की छत गिर पड़ी, खिड़की के शीशे टूट गये। अंधेरी रात थी और ना चंद्रमा सोफिया को दिख रहा था और ना ही टॉलस्टॉय। वह आगे बताती हैं कि वे घर के पोर्च में रुंधे गले और डूबते मन के साथ खड़ी रहीं जैसा कि वो तब भी किया करती थीं जब टॉलस्टॉय शिकार पर जाते थे और वह घंटों प्रतीक्षारत रहती थीं। अंततः टॉलस्टॉय उनको लौटते हुए दिखते हैं, उनके आते ही सोफिया रो पड़ती हैं और उन्हें फटकार लगा देती हैं,जिस पर टॉलस्टॉय जवाब देते हैं कि तो क्या हुआ कि मैं बाहर गया था, मैं छोटा बच्चा तो नही जो तुमको बताना पड़े। इस वाकये पर सय्यदा अर्शिया हक का एक शेर याद आता है;

'औरत हो तुम तो तुम पे मुनासिब है चुप रहो
ये बोल खानदान की इज्ज़त पे हर्फ़ हैं।'

सोफिया को उस दिन अपने प्रेम और ख्याल रखने की आदत से निराशा हुई। एक प्रतिभाशाली स्त्री का भविष्य सिर्फ इसलिए सिमट कर रह गया क्योंकि उन्हें अपने पति के कारण एकाकी जीवन व्यतीत करना पड़ा और उन्हें कभी भावनात्मक सहारा नही मिला। सोफिया जिसे अपना आदर्श मानती थीं उन्हीं से उनको यातनाएं मिलती रही। उनकी डायरी के पुरोवाक में डोरिस लेसिंग ने भी टॉलस्टॉय को एक बुरे पति की संज्ञा दी है जो कि निजी सम्बन्धों में अविवेकी रहे। ८२ वर्ष की उम्र में टॉलस्टॉय ने अपनी पत्नी को छोड़ भी दिया था। सोफिया ने इतना दुख सहने के बाद पति को लेकर निष्ठावान रहीं। उन्होंने किसी गैर मर्द की ओर देखा तक नहीं। उन्होंने आत्महत्या करने की भी कोशिशें की।उन्होंने लिखा है वह अपने घर मे फर्नीचर की तरह इस्तेमाल की जाती रहीं।

सोफिया टॉलस्टॉय के बारे में अनेक पुस्तकें आ चुकी हैं। उन दोनों के जीवन पर फ़िल्म भी बन चुकी है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि दुनिया टॉलस्टॉय को पूज्य मानती है पर एक पति के रूप में वह कितने निर्दयी थे। अगर सोफिया की डायरी नहीं छपती तो दुनिया को आज पता भी नहीं चलता। हर स्त्री को अपनी डायरी जरूर लिखनी चाहिए। ●

नेहा इलाहाबाद विश्विविद्यालय में अंग्रेजी विभाग की शोध छात्रा हैं और हिंदी में कविताएं भी लिखती हैं।

दो बहनों की कविताएं

हिंदी साहित्य के पाठक कात्यायनी और कविता कृष्णपल्ली की कविताएं पढ़ते रहे हैं जो दो बहनें हैं। अब दो और बहनों का हिंदी कविता की दुनिया में स्वागत हो रहा है। दोनों जेएनयू की छात्रा रही हैं। एक हिंदी और दूसरी समाजशास्त्र की। बिहार के मुजफ्फरपुर में जन्मी शेफाली और मेधा का कविता संग्रह हाल ही में एक साथ आया है। राबिया का खत और मेरे गर्भ में चाँद। मेधा दिल्ली विश्वविद्यालय के सत्यवती कालेज में हिंदी पढ़ाती हैं जबकि शेफाली अभी पीएचडी कर रही हैं। यहां प्रस्तुत है दो बहनों की कविताएं।

शेफाली की चार कविताएं

गर्भ

मुझे प्रिय है
अपना गर्भ
इसी गर्भ में पलता है कुछ ऐसा
जो संसार के सभी बच्चों के लिए
उतार लाता है दूध छाती में
इसी गर्भ में धड़कती हैं कुछ धमनियां
जो संसार की सभी माँओं के हृदय से जुड़ी हैं

मुझे प्रिय है
अपना गर्भ
किसी धर्म की तलवार इसे चीर कर
बाहर निकाल नहीं सकती
कोई डॉक्टर
कोई मशीन
इसका लिंग पता नहीं कर सकती
कोई समाज
इसे बांझ नहीं कह सकता

मुझे प्रिय है
अपना गर्भ
क्योंकि इसके पुष्पित–पल्लवित होने के लिए
मुझे स्त्री होना नहीं पडता
ना ही एक पुरूष की खोज करनी पड़ती है

मेरा गर्भ
पेड़ों पर गीत गाते
पक्षियों की लम्बी उड़ान
और आश्रय है

मेरा गर्भ
धरती है
आकाश है

बीज

धरती के गर्भ में
समा जाने को मचलता
बीज हूँ

सहस्त्र बाँहें फैलाए
आसमान को अपने
आगोश में लेने का
सपना संजोए
बीज हूँ

धरती के सारे भेदों को चीर
उसके कण–कण को चूमने को
विकल बीज हूँ

धरती और अम्बर के प्रणय का साक्षी
बीज हूँ
अग्नि,जल,वायु के
संयोग से बना
बीज हूँ मैं

साक्षी

मैं
कुछ भी कहना नहीं चाहती
कुछ करना भी नहीं

बस
चुपचाप
तुम्हारी यात्रा की साक्षी

रहना चाहती हूँ
ठीक वैसे ही जैसे
मैं अपनी यात्रा की साक्षी हूँ
ठीक वैसे ही
जैसे मैं अपने देश की यात्रा की साक्षी हूँ
और हाँ,
ठीक वैसे ही
जैसे मैं समस्त ब्रह्मांड की यात्रा की साक्षी
होना चाहती हूँ

तुम्हें
कुरेदूंगी नहीं
हां, बस
कभी–कभी
तुम्हारी ऑखों की कोरों में
समा कर
तुम्हें गीलेपन का एहसास दे जाऊंगी
हो सकता है कभी तुम्हारी ऑखों में तैरती
सजल नन्ही बूंदें भी
बन जाऊं
बुरा मत मानना
हो सकता है
थके–हारे
जब तुम
बिस्तर पर तकिए के सहारे
निढाल पड़े होगे
तुम्हारे मुँह की लार बन
तकिये को गीला भी कर जाऊँ

मेरे पास कुछ भी नहीं
देने का सवाल ही नहीं
और
इतनी भरी हूँ कि
जो कुछ भी तुम दोगे
वह तत्क्षण सबका हो जाएगा
इसीलिए
मैं कुछ कह नहीं सकती
कुछ कर भी नहीं सकती
बस
तुम्हारे गुस्से में
तुम्हारे भीतर
मौन बन कर
बस जाना चाहती हूँ
और तुम्हारे मौन में
दुनिया की तमाम
बेबस चुप्पी को तोड़ कर
तुम्हारी ऑखों में चमक
और तुम्हारी रगों में
लहू बनकर दौड़ना चाहती हूँ

हां!
कुछ और नहीं
तुम्हारी यात्रा की साक्षी होकर
मैं समस्त ब्रह्मांड की यात्रा की साक्षी बन जाना चाहती हूँ

भेद–अभेद

इतना पाया
इतना पाया कि
पाने और खोने का
भेद जाता रहा

इतना आनंद मिला
इतना कि
सुख और दुख
अदृश्य होते गए

सूर्य ने
इतना बिखेरा प्रकाश
इतना कि
अंधकार और प्रकाश
खेलते–खेलते
ऑचल में आकर
विलुप्त हो गए

इतना प्रेम मिला
इतना कि
विरह और मिलन की
समीपता और दूरी का
भेद जाता रहा

मगर लोग कहते हैं
इसने इतना खोया
इतना कि
पाना और खोना
क्या है
नहीं जानती
दुख को इतना झेला
इतना कि
सुख का स्वाद तक
नहीं जानती

सारी उम्र
अमावस के दीये की तरह
जलती रही
इसलिए प्रकाश क्या है
नहीं जानती

जानते हो
लोग कहते हैं
जरूर, विरह में
सालों भटकी है
तभी तो मिलन की
प्यास तक नहीं जागी

चित्र: उपासना झा

मेधा की चार कविताएं

प्रेम की भाषा

डायरी के पन्नों के बीच
एक नाजुक सी गुलाब की पंखुरी
लेकिन
मेरे स्वप्न से थोड़ी मजबूत–
याद दिलाती है, हर शाम कि
प्रेम की कोई भाषा नहीं होती,
लेकिन भाषा तो मुहताज होती है
प्रेम की।
प्रेम के बिना कहां खिल पाती है
कोई भाषा!
ललदेद के प्रेम से, केसर सी
केसरिया हो गई थी, कश्मीरी भाषा
जिसकी खुशबू भले ही आज
रक्तरंजित राजनीति की गंध में
दब गई है।
लेकिन घाटी के पास उम्मीद का चिनार
अभी जिंदा है कि
जब तक लल मां के वाख़
अपनी कश्मीरियत के साथ
गूंजते रहेंगे वादी में
तब तक
नरक की आग में जलकर भी
उसका जन्नतपन लौटता रहेगा
बार–बार–बारंबार।
चिड़ियों के घोसलें में लौटने वाली हर
शाम की चादर पर
सलमा सितारे सा टका है
लल का वाख़
और आख की कोह में
छुपा है, वही प्रेम
जिसकी कोई भाषा नहीं होती।
कभी उतर सको लल के भीतर
और केसर सी कश्मीरी के रंग
रंग सको तो
वहां मिलेगा तुम्हें
अपने मौन में मुखरित वही प्रेम
जिसे तुमने ढलते सूरज को
साक्षी मान रख दिया था
मेरी हथेली पर
हाजी अली की उस शाम को।

अजंता की गुफा

अजंता की गुफाओं,
सुनो!
तुम सदियों से इतनी उदास
विगत की स्मृतियों के जाल में उलझी
गुमसुम सी कब तक रहोगी?
अपने यहां आनेवालों को
अपना दुख कब कहोगी?

तुम्हारी दीवारों में न जाने कितने
तथागतों का मौन सुलग रहा है!
तुम्हीं कहना!
तुम्हारे पहलू में आकर
सत्य का अन्वेषण करने वाले
भिक्षुओं की रगों में क्या
प्रेम का ताप नहीं बहता था!
क्या कभी तुम्हारा मन
नहीं करता कि
ज्ञान की गूंज से दम भर को
फुर्सत मिल जाए और
कोई तुम्हारे पहलू में बैठ कर
बांसुरी की मीठी धुन बजाए
कोई राग विहाग गाए!
सच कहना अजंता की गुफाएं!
क्या कभी तुम्हारे भीतर ये कामना
नहीं जगी कि
राधा और कृष्ण किसी रोज
तुम्हारे यहां आकर रास रचाएं?
खैर छोड़ो!
न जाने क्यों तुम्हारी दुखती रगों पर
हाथ रख रही हूं और
प्रत्येक तथागत की यशोधरा का दुख
सह रही हूं।

गूगल से साभार

अलसी के फूल

वसंत के आगमन की
खबर
हवा में तैर रही है।
आज नहीं तो कल
वसंत आएगा ही,
आखिर जायेगा कहाँ?
सूरज की स्नेहिल
चादर की गरमाई
से पार्क की
ठिठुरन गयी है ठिठक।
और
अपना मुँह
छुपाने के लिए
इधर–उधर
भाग रही है।
पास ही एक थाली में
(क्योंकि शहर को नसीब नहीं सूप और डगरा)
सूख रही है, अलसी–
जिसे मेरा बचपन
तीसी के नाम से जानता था।
वैसे तो अलसी के सूखने से
मेरे गाँव का
या कि मेरे बचपन का
कोई खास रिश्ता नहीं।
फिर भी मन में खिल
रहे हैं
अलसी के नीले–नीले
नन्हें–नन्हें फूल
जैसे कि नवजात
मिचमिचा रहा हो
स्वप्न–भरी अपनी
आंखें
इस पल जिंदगी
लटटू हो
पृथ्वी की धुन पर
नाच रही है,
जैसे कि
मेरे इशारे पर
बचपन की
धुन पर नाचते थे,
अलसी के हृष्ट–पुष्ट
लघु फल।

गूगल से साभार

सन्नाटे पर एक कविता

रात की सर्द खामोशी में
आसमान क्या कर रहा होगा!
तारों से बातें या
चांद को अपलक निहार रहा होगा!
हो न हो
वह अंधेरे के कारण उदास हो रही
पृथ्वी को देख कर
तारों से मनुहार कर
रहा होगा कि
जरा नीचे जाकर
जगमग कर दे पृथ्वी की रात।
चुप तो नहीं
बैठा होगा वह,
कुछ न कुछ तो
कर ही रहा होगा
आसमान।
किसे पता है कि
वह लिख नहीं
रहा होगा
रात के सन्नाटे पर एक कविता।
गहरी नींद में सोए हम
आसमान के जागरण
के शुक्रगुजार हैं
कि जब वह सोयेगा तो
हमारे जागने की बारी होगी।

चित्र: अनुप्रिया

भूली बिसरी रचनाओं का पुनर्पाठ

अपने समय के महत्वपूर्ण उपन्यासों को समझने की एक बेहतर प्रविधि प्रदान करने के साथ ही वीरेंद्र यादव की पुस्तक 'उपन्यास और देस' एक आलोचक के रूप में उनके चयन की प्राथमिकताओं को दर्शाते हुए उनकी जीवन दृष्टि का भी बयान करती है। किताब के परिचय के बारे में कुछ ऐसा ही उसके ब्लर्ब पर लिखा गया है जो किताब पढ़ने के बाद बिलकुल सही लगता है। चार खंडों में विभाजित पुस्तक में एक अन्याय है 'देवी शंकर अवस्थी की आलोचना दृष्टि' यह अध्याय दरअसल 5 अप्रैल 2002 को देवीशंकर अवस्थी सम्मान समारोह में दिये गये वक्तव्य पर आधारित है। इस अध्याय को पढ़ते समय सचमुच हैरानी होती है कि किस तरह 2002 में जिन 'शत्रु छवियों' के गढ़े जाने की बात वीरेंद्र यादव कर रहे हैं, सेक्युलर बौद्धिक वर्ग की वह छवि आज सत्तातंत्र गढ़ने में पूरी तरह कामयाब हो चुका है। वीरेंद्र यादव की एक खास बात ये है कि बौद्धिक चैतन्यता के स्तर पर वे अभी एकदम युवा हैं।

प्रीति चौधरी

वीरेंद्र यादव हमारे समय के ऐसे साहित्यालोचक हैं जिनकी जनपक्षधरता उनके आलोचना कर्म में स्पष्ट परिलक्षित होती है। वीरेंद्र यादव की पुस्तक 'उपन्यास और देस' उनके आलोचनात्मक लेखों का संग्रह है जिसमें उन्होंने कुछ चर्चित कृतियों के साथ ही ऐसी पुस्तकों का भी विश्लेषण किया है जो पाठकों और आलोचकों दोनों के ध्यानाकर्षण से वंचित रह गयीं। वीरेंद्र यादव ऐसी कई किताबों को खोजकर पाठकों के बीच लाते हैं जो अपनी विषयवस्तु के कारण ना सिर्फ महत्वपूर्ण हैं बल्कि आज के परिदृश्य में मौजूद कुछ सवालों से जूझती भी हैं। सांप्रदायिकता, सामंतवादी विद्रूपताएं और जातिगत श्रेणीक्रम से उपजी सामाजिक विषमताएं जाहिर तौर पर किसी भी वास्तविक प्रगतिशील समाज और मानवीय गरिमा के प्रतिकूल होती हैं और यही किसी भी अच्छे साहित्य के मूल्याकंन का पैमाना भी होती हैं कि उसकी प्राणवायु है आखिर है क्या?वीरेंद्र यादव यदि बार-बार लौटकर प्रेमचंद के पास जाते हैं तो इसलिए कि प्रेमचंद के साहित्य की प्राणवायु भारत का वो दबा कुचला समाज है जिन्होंने साहित्य के आस्वाद के तरीके को पूरी तरह बदल दिया। प्रेमचंद ने एक पूरी पीढ़ी को साहित्य का सलीका दिया, दूसरे शब्दों में उन्होंने साहित्य के हुस्न का मेयार बदल दिया।

वीरेंद्र यादव के लिए भी साहित्यिक आलोचना की कसौटी यही है कि लेखक अपनी रचना के मार्फत किसके साथ खड़ा है। यदि उन्हें राही मासूम रजा का 'आधा गाँव' एक महत्वपूर्ण उपन्यास लगता है तो इसलिए कि इसमें विभाजन की त्रासद कथा की पृष्ठभूमि में एक उत्तर भारतीय गाँव के मुस्लिम समाज के आंतरिक विभेद और विडंबनाओं को कागज पर ऐसे उतारा गया है जो सामाजिक दस्तावेज की प्रमाणिकता के साथ एक दिलचस्प कथा के साथ उपन्यास के रूप में हमारे सामने आता है। वीरेंद्र यादव के आलोचकीय कर्म का नाभिकीय 'देस' ही है। देस और देश का यह फर्क तद्भव और तत्सम के बनावट, अर्थ और उसकी महक का फर्क है जो देस को इस देश के सबसे कमजोर और उपेक्षित तबके की जीवन चेतना से प्रत्यक्ष जोड़ता है।यही कारण है कि जब वीरेंद्र यादव हिंदी साहित्य के पुरोधा आलोचक डा. रामविलास शर्मा को समझने का प्रयास करते हैं तो पाते हैं कि रामविलास शर्मा को रेणु, रांगेय राघव, राहुल सांकृत्यायन और यशपाल कम प्रिय लगते हैं और अमृत लाल नागर और भगवती चरण वर्मा उन्हें अधिक प्रिय हैं तो उसकी ठोस वजह है। वकौल वीरेंद्र यादव यह ठोस वजह रामविलास शर्मा के मार्क्सवादी चिंतन का वह चोर दरवाजा है जिसमें तुलसी को तो प्रवेश मिलता था पर कबीर को जहां बाहर कर दिया गया था। वीरेंद्र यादव ने यदि रामविलास शर्मा जैसे आलोचक पर उंगली उठायी है और 'वर्णाश्रम व्यवस्था' और 'ब्राह्मणवाद' को उनका ब्लाइंड स्पॉट माना है तो इसके पीछे ठोस तार्किक आधार हैं। वे साक्ष्य प्रस्तुत करते हुए जब रामविलास शर्मा को उद्धरित करते हैं कि 'प्रेमचंद तुलसी के त्याग, सहृदयता और शूरता की परंपरा के उत्तराधिकारी हैं' तो शर्मा जी की मानसिक बुनावट की परतें खुल सी जाती हैं। इसी तरह मैनेजर पांडेय की आलोचना पर टिप्पणी करते हुए वीरेंद्र यादव महसूस करते हैं कि मैनेजर पांडेय ने जैसे प्रेमचंद को पढ़ा और समझा है वह मानीखेज है। मैनेजर पांडेय ने बखूबी समझा कि स्वाधीनता आंदोलन का एक बेहतरीन क्रिटिक प्रेमचंद के उपन्यासों में मौजूद है क्योंकि स्वाधीनता आंदोलन में जो चीजें अनुपस्थित हैं वे प्रेमचंद के कथा साहित्य में उपस्थित है, उनके उपन्यासों के जनतंत्र में हाशिए के समाज, किसान, स्त्री, दलितों को जो जगह मिली है वो स्वाधीनता आंदोलन के केंद्रीय मूल्यों की अनुकृति मात्र ना होकर उसे बहुत आगे ले जाती है।

वीरेंद्र यादव की आलोचना दृष्टि ने बहुत सारी भूली बिसरी रचनाओं को खोज कर उनका पुनर्पाठ प्रस्तुत किया है जो कि पढ़ने में रोचक होने के साथ ही कथावस्तु के नजरिये से महत्वपूर्ण और ध्यान खींचने वाले हैं, बानगी के तौर पर हम सुप्रसिद्ध कवि केदारनाथ अग्रवाल के उपन्यास 'पतिया' को ले सकते

हैं। यह देसज पृष्ठभूमि के घनघोर सामंती सामाजिक परिवेश में स्त्री यौनिकता और यौन मनोविज्ञान का अनूठा आख्यान है जहां पुरुष दमन से त्रस्त दो स्त्रियां वैकल्पिक साहचर्य में सुख ढूंढ लेती हैं। केदारनाथ अग्रवाल ने यह रचना तब की थी जब हिंदी क्या दूसरी भाषाओं में भी स्त्री लेखन की कोई अनुगूंज नहीं थी। भारत में दलित नारीवाद की सैद्धांतिकी आने से बहुत पहले केदारनाथ अग्रवाल 'पतिया' में दलित स्त्री के दोहरे तीहरे शोषण की व्याख्या कर रहे हैं। ऐसे ही आचार्य शिवपूजन सहाय के उपन्यास 'देहाती दुनिया' का पुनःपाठ प्रस्तुत करना भी भारतीय ग्राम्य जीवन की विसंगतियों को उसकी अंतरंगताओं के साथ समझना है। मैत्रेयी पुष्पा के आत्मपरक उपन्यास 'कस्तूरी कुंडल बसै' पर लिखते हुए वीरेंद्र यादव इसे गौरा और मैत्रेयी के आपसी रिश्तों के द्वंद और तनाव के रूप मे परिलक्षित करते हैं। यहाँ माँ बेटी के जीवन दर्शन एक दूसरे के मुखालिफ खड़े मिलते हैं जिन्हें मैत्रेयी पुष्पा ने बहुत काबिलियत के साथ कलम में ढाला है।

अपने समय के महत्वपूर्ण उपन्यासों को समझने की एक बेहतर प्रविधि प्रदान करने के साथ ही वीरेंद्र यादव की पुस्तक 'उपन्यास और देस' एक आलोचक के रूप में उनके चयन की प्राथमिकताओं को दर्शाते हुए उनकी जीवन दृष्टि का भी बयान करती है। किताब के परिचय के बारे में कुछ ऐसा ही उसके ब्लर्ब पर लिखा गया है जो किताब पढ़ने के बाद बिलकुल सही लगता है। चार खंडों में विभाजित पुस्तक में एक अध्याय है 'देवी शंकर अवस्थी की आलोचना दृष्टि' यह अध्याय दरअसल 5 अप्रैल 2002 को देवीशंकर अवस्थी सम्मान समारोह में दिये गये वक्तव्य पर आधारित है। इस अध्याय को पढ़ते समय सचमुच हैरानी होती है कि किस तरह 2002 में जिन 'शत्रु छवियों' के गढ़े जाने की बात वीरेंद्र यादव कर रहे हैं, सेक्युलर बौद्धिक वर्ग की वह छवि आज सत्तातंत्र गढ़ने में पूरी तरह कामयाब हो चुका है। वीरेंद्र यादव की एक खास बात ये है कि बौद्धिक चैतन्यता के स्तर पर वे अभी एकदम युवा हैं। देश और अपने आस पास घटित होते के प्रति हमेशा एकदम चौकन्ने रहने वाले। वीरेंद्र यादव की फेसबुक पोस्टों को ही देखा जाय तो उनकी मुस्तैदी का पता चलता है, 'टेलीग्राफ' अखबार हो या 'द हिंदू', वीरेंद्र जी की नजर सब पर रहती है या फिर इन अखबारों में थोड़ी पत्रकारीय उम्मीद देखकर वे राहत पाते हैं। कहना ना होगा कि हाशिए के समाज की चिंता और लोकतांत्रिक मूल्यों के बचे रहने के प्रति वे पब्लिक इंटलैक्चुअल की भूमिका में सोशल मीडिया पर सक्रिय रहते हैं।

उपन्यासों की इतिहास दृष्टि पर बात करते हुए वीरेंद्र यादव 1857 पर आधारित उपन्यासों, 'झाँसी की रानी' जो वृंदावनलाल वर्मा का उपन्यास है और 'रानी लक्ष्मीबाई' जो महाश्वेता देवी द्वारा रचित है के बरक्स कमलाकान्त त्रिपाठी के उपन्यास 'पाहीघर' को 1857 के भिन्न पाठ के रूप में बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं। जाहिर है उपन्यासों की सबाल्टर्न दृष्टि पाठकों को जन इतिहास से परिचित कराती है और परंपरागत

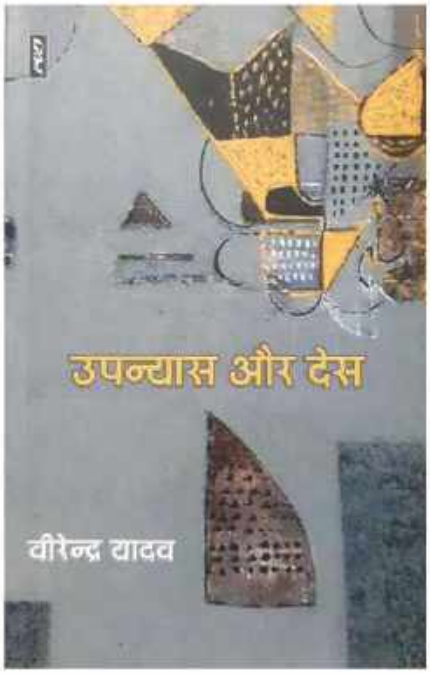

किताब : उपन्यास और देश
लेखक : वीरेंद्र यादव
प्रकाशक : सेतु प्रकाशन
कीमत : 325
पेज : 327

सेतु प्रकाशन से आयी पुस्तक 'उपन्यास और देस' का अतिरिक्त महत्व इस बात के लिए भी हो सकता है कि उपन्यासों को कैसे पढ़ा या समझा जाय

इतिहास की समझ को तोड़ती है। कमलाकान्त त्रिपाठी का ही उपन्यास 'बेदखल' जो स्वाधीनता आंदोलन की संघर्ष गाथा में भुला दिये गये नायक बाबा रामचंद्र को केंद्रीयता प्रदान करता है उसे आलोचक के रूप में वीरेंद्र यादव गाँधी के अफ्रीका प्रवास पर रचित उपन्यास 'पहला गिरमिटिया' से अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं क्योंकि वह गाँधी के जीवन की पुनर्प्रस्तुति मात्र है। इसी तरह संजीव रचित 'सूत्रधार' और अनामिका लिखित 'दस द्वारे का पिंजरा' जो क्रमशः प्रसिद्ध भोजपुरी नाटककार भिखारी ठाकुर और ब्राह्मणवादी रूढ़ियों का विरोध करने वाली पंडिता रमाबाई के जीवन पर आधारित हैं, वे परंपरागत अर्थों में ऐतिहासिक उपन्यास ना होते भी अपने समय के सामाजिक इतिहास के रूप में पढ़े जा सकते हैं। बात यहाँ यही है कि जो रचना अपने समय का क्रिटिक नहीं रचती वह वास्तविक अर्थों में साहित्य के मायने से दूर होती है।

वीरेंद्र यादव के लिए हिंदी पाठकों के बीच खास जगह इसी लिए भी बनती है कि वे समय समय पर अंग्रेजी के चुनिंदा उपन्यासों की समीक्षा कर उन्हें पाठकों के बीच ले जाते हैं। 'उपन्यास और देस' में भी दो अंग्रेजी उपन्यासों की विस्तृत समीक्षा वाले अध्याय शामिल किए गये हैं, जिनमें अतिया हुसैन का 'सनलाइट ऑन ए ब्रोक्रेन कॉलम' स्वाधीनता आंदोलन की जमीन पर अभिजात्य परिवार में रह रही एक सुशिक्षित स्त्री की त्रासदी को बयान करता है जहाँ आधुनिकता की नकली बयार के बीच कैसे पुरुष आधिपत्य व्यक्तित्व संपन्न स्त्रियों को तोड़ता है। आतिया हुसैन के उपन्यास में स्त्री यंत्रणा की वर्ग विभाजन से अलग प्रस्तुति है जहाँ मालकिन और नौकरानी दोनो एक जैसा दंश झेल रही हैं। एक तरीके से आलोचक ने भुला दी गयी आतिया हुसैन की तरफ हिंदी और उर्दू पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। अरुंधति राय के 'दि मिनिस्ट्री ऑफ अटमोस्ट हैपीनेस' पर लिखते समय बजाहिर वे अंरुधति राय के सामाजिक सरोकारों और लीक से हटकर शिल्प रचने वाली उनकी एक्टिविस्ट शख्सियत के प्रति प्रशंसा से भरे हुए हैं। 'उपन्यास और देस' का पहला अध्याय ही फणीश्वर नाथ रेणु के मैला आंचल पर 'मैला आँचलः अधूरी आजादी की पूरी कथा' शीर्षक से है। हमें याद है कि पिछले साल देश भर में रेणु पर विभिन्न कार्यक्रमों का आयोजन हुआ, स्त्री दर्पण ने भी रेणु पर लगातार बहुत अच्छी परिचर्चाओं को आयोजित कर उनकी रचनाओं को जेरे बहस किया। वीरेंद्र यादव 'मैला आँचल' पर लिखते हुए कहते हैं कि रेणु ने अपने लेखन द्वारा प्रेमचंद की परंपरा का विस्तार करते हुए कहन और कथन के जिस मौलिक मुहावरे को अपनाया था वह हिंदी जगत में रचनात्मक विस्फोट था और जिसके मूल्यांकन के लिए तत्कालीन उपलब्ध मार्क्सवादी व कलावादी दोनों ही प्रविधियां सर्वथा अपर्याप्त थीं। इसी तरह हमलोगों के समय के सुप्रसिद्ध किस्सागो अखिलेश के बहुचर्चित उपन्यास 'निर्वासन' पर टिप्पणी करते हुए वीरेंद्र यादव इसे मनुष्य के महज भौतिक निर्वासन की नहीं बल्कि उसके आत्मिक निर्वासन और सामाजिक स्तर पर मानवीय सरोकारों के निर्मम निर्वासन के रूप में देखते हैं। 'उपन्यास और देस' जैसा कि शायद पहले भी कहा जा चुका है कि यह ऐसी कृतियों की भी चर्चा करता है जो हिंदी साहित्य के समीक्षा जगत से अछूती रहीं और पाठकों का भी उनपर बहुत कम ध्यान गया है। हृदयेश जोशी का उपन्यास 'लाल लकीर' छत्तीसगढ़ की नक्सल पृष्ठभूमि पर रची गयी ऐसी ही रचना है जो जनजातीय पात्र भीमे कुंजाम के माध्यम से राज्य सत्ता और नक्सलियों के बीच दोनों तरफ से पीसे जा रहे आदिवासियों के जीवन की मार्मिक विडंबना को दर्ज करती है। सेतु प्रकाशन से आयी पुस्तक 'उपन्यास और देस' का अतिरिक्त महत्व इस बात के लिए भी हो सकता है कि उपन्यासों को कैसे पढ़ा या समझा जाय, युवाओं विशेषकर साहित्येच्छुओं को एक ठोस नजरिया यहाँ मिलता है।●

अर्वाचीनता के अशिष्ट मदनोत्सव का पर्दाफाश करती कविताएं

विपिन चौधरी

हिन्दी के महत्वपूर्ण कवि कुमार अंबुज की कविताएं, अभिजात्य सौन्दर्याभिरुचियों पर कुठाराघात करने और लोकतान्त्रिक मूल्यों की रक्षा के चिंतित दिखाई देती हैं। यथार्थ की विडंबनाओं को अपने शिल्पचातुर्य से बखूबी प्रस्तुत करने वाले कवि के रूप में कुमार अंबुज की पहचान है।

1992 में प्रकाशित अपने पहले कविता संग्रह, 'किवाड़' से लेकर इस वर्ष 2022 में प्रकाशित उसके कविता-संग्रह, 'उपशीर्षक' में वे समय के साथ बदलते यथार्थ की बानगियों को लेकर प्रस्तुत हुए हैं।

इस संग्रह में शामिल 'दैत्याकार संख्याएँ' 'एक अधूरी ज़मीन', 'यदि तुम नहीं माँगोगे न्याय', 'जिम्मेदारी', 'पहचान', 'मुझे हरेक पर शक है', 'असली हत्यारे' शीर्षक से लिखी कविताएं हाल ही में निर्मित किए गए नए आख्यानों की सच्चाईयों को सामने रखती हैं।

जैसे चंद धनाढ्य लोगों को ही अब सर्वेसर्वा बना कर प्रस्तुत किया जा रहा है। पिछले वर्ष के आंकड़े बताते हैं कि भारत के अरबपतियों की आबादी, विश्व में तीसरे स्थान पर है। अकूत संपत्ति के ये धारक सत्ता को अपने हाथों में रखना चाहते हैं। इनका ग्लैमर अब अश्लीलता के चरम पर पहुँच गया है,

जिनके पास हर चीज़ ज़रूरत से ज्यादा है
वे ही दिन-रात बने रहते हैं अखबारों में
छोटे-बड़े परदों पर, सत्ता के गलियारों में
सुलभ शौचालय के पोस्टरों तक में दिखते हैं
(यह ज्यादा बहुत ज्यादा है)

अमेरिकी समाजशास्त्री और आर्थिक इतिहासकार, इमैनुएल मौरिस वालरस्टीन ने 1971 में द मॉडर्न वर्ड सिस्टम के पहले भाग में सोलहवीं शताब्दी में आधुनिक विश्व-व्यवस्था का आगमन के साथ कृषि अर्थव्यवस्थाओं में पूंजीवाद के शुरू होने और 'पूंजी के अंतहीन संचय' की बात की है। इमैनुएल मौरिस आने वाले 500 वर्षों में वैश्वीकरण या आधुनिक विश्व-व्यवस्था में पूंजीवाद में बढ़ोतरी भी कहते हैं।

वर्तमान समय में विदेशी प्रत्यक्ष निवेश, पूँजी प्रवाह, प्रौद्योगिकी के प्रसार के कारण राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का अन्तरराष्ट्रीयकरण और अर्थव्यवस्थाओं में एकीकरण तो हम देख ही रहे हैं।

तीसरी दुनिया के देशों में सर्वव्यापी हो चुके भूमंडलीकरण के दुष्परिणाम के रूप में अमीर-गरीब के बीच की लगातार गहराती खाई का सच भी हमारे सामने है।

पेरिस स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स के फ्रेंच अर्थशास्त्री, प्रोफेसर थॉमस पिकेटी ने 2013 में कैपिटल इन द ट्वेंटी-फर्स्ट सेंचुरी शीर्षक एक किताब लिखी थी जिसमें उन्होंने 'पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में आर्थिक विकास के अपरिहार्य परिणामों के कारण असमानता और धन के संचय के जन्म के कारण सामाजिक आदर्शों और न्याय पर आधारित लोकतान्त्रिक समाज के कमज़ोर होने की बात कही है।

ऑनलाइन मार्केट के विस्तार और विज्ञापनों के बाज़ार ने हमें नागरिक से उपभोक्ता में तब्दील कर दिया है। धन संचय की भूख के कारण भ्रष्टाचार की सारी सीमाएं पार हो गई हैं। कवि की चिंता के दायरे में पूरी व्यवस्था का पूंजीमय हो जाना और मनुष्य की नैसर्गिकता का लोप हो जाना है। अपनी इसी चिंता के चलते वे पोलिश-ब्रिटिश लेखक जोसेफ़ कोनराड की पंक्ति- "मेरा काम है कि मैं आपको सुनने, कुछ महसूस करने और सबसे ज्यादा कुछ देखने के लिए तैयार कर सकूँ। बस यही, और यही सब कुछ है" को बतौर समर्पण प्रस्तुत करते हैं।

ऑनलाइन मार्केट के विस्तार और विज्ञापनों के बाज़ार ने हमें नागरिक से उपभोक्ता में तब्दील कर दिया है। धन संचय की भूख के कारण भ्रष्टाचार की सारी सीमाएं पार हो गई हैं। कवि की चिंता के दायरे में पूरी व्यवस्था का पूंजीमय हो जाना और मनुष्य की नैसर्गिकता का लोप हो जाना है। अपनी इसी चिंता के चलते वे पोलिश-ब्रिटिश लेखक जोसेफ़ कोनराड की पंक्ति- "मेरा काम है कि मैं आपको सुनने, कुछ महसूस करने और सबसे ज्यादा कुछ देखने के लिए तैयार कर सकूँ। बस यही, और यही सब कुछ है"

संग्रह की अधिकतर कविताएं, भविष्य के उन संभावित खतरों की ओर इशारा करती हैं जो जितने प्रकट हैं, उतने ही प्रच्छन्न भी। ये कविताएं बताती हैं कि आधुनिकता की राह में कदम-कदम पर बिखरे हुए इन खतरों का निर्माण, मनुष्य की अनियंत्रित अभिलिप्सा के चलते ही हुआ है। समाज, संस्कृति, राजनीति के स्तर पर घटने वाली विनाशकारी परिस्थितियाँ, सभ्यताओं के विध्वंस की ओर संकेत करते खतरे और सबसे अधिक विस्फोटक स्थिति तक पहुंचे पारिस्थितिकी असंतुलन का जिक्र उन्होंने 'जब एक पोस्टर का जीवन' शीर्षक से लिखी इन कविता-पंक्तियों में किया है,

जब ऋतुओं के अन्तराल में पतझर आता है
हम आदतन करने लगते हैं अगले मौसम का इन्तजार
लेकिन देखते हैं यह तो पलटकर वापस आ गया है पतझर
तब नष्ट होते चले जाने के दृश्य
चारों तरफ़ चित्रावली की तरह दिखने लगते हैं

कुमार अंबुज की कविताओं में कथ्य की व्यापकता और यथार्थ-बोध बहुत गहरा है। उनके अनुभव जनित कविता-संसार में कुछ भी हवा हवाई नहीं है। मानवीय मूल्यों की अगवाई करती उनकी कविताओं की शब्दावली गंभीर होते हुए भी रूखी नहीं दिखती।

कवि-आलोचक-अनुवादक विष्णु खरे ने भी कुमार अंबुज की कविताओं के लिए कुछ ऐसा ही कहा है- कुमार अंबुज की कविताएं, हमारे आज के हालात का सीधा-प्रसारण है जिसमें देखती हुई आँख कभी यथार्थ से बचती नहीं है। यदि कविता की निगाह व्यक्ति और समाज के सूक्ष्मतर पहलुओं तक नहीं जाती तो वह अंततः अधूरी ही कही जाएगी।

'क्षमा किए जाने की प्रतीक्षा में' कविता, कवि की उच्च चेतना और उन्नत जागरूकता का पता देती है जिसमें वे यथार्थ की प्रकृति के साथ-साथ अपने व्यक्तिगत और मनोवैज्ञानिक विकास को भी गंभीरता से परखते हैं।

मैं अनधिकृत ही सही
अपने पूर्वजों, समकालीनों की तरफ़ से
माफ़ी माँगना चाहता हूँ तमाम दलितों से
अल्पसंख्यकों, घुमंतुओं और आदिवासियों से
जिन्हें बिना न्याय के थानों में दम तोड़ना पड़ा
जो मारे गए युद्धों में, मुठभेड़ों में उनसे तो सबसे ज्यादा

संग्रह के शुरुआत की कविताओं के भाव-पक्ष की भंगिमाओं में प्रतिरोध, आगाह और चेतावनियाँ हैं। लगातार विकराल होते जा रहे समय में मनुष्यता को बचा लेने के लिए चिंतन है। मध्यमवर्गीय जीवन की विडंबनाएं, विस्थापन के बढ़ते खतरों के संकेत, लोकतंत्र के नाम पर किए जाने वाले तमाम दुश्चक्रों की वजह से खतरे के निशान की ओर बढ़ता मनुष्य का जीवन है जिसकी कद्र किसी को नहीं है,

सरकार कहती है हम किसी को नहीं मारते
भला हम क्यों मारेंगे मगर लोगों को लोगों के द्वारा
लोगों के लिए बनाए कानून का पालन करना चाहिए
सरकारी मौत एक अंधविश्वास है
सब अपनी ही मौत मरते हैं
अखबार और टीवी चैनल दिन-रात इसी सत्य की याद दिलाते हैं
(सरकारी मौत एक अंधविश्वास है)

आज के समय में इतिहास को तोड़ने, मरोड़ने और नए नरेटिव गढ़ने, सोशल मीडिया के जरिए वैमनस्य फैलने के उपक्रम तेज़ी से फैल रहे हैं। चुनावों में हस्तक्षेप, सत्तावादी सरकारों द्वारा इंटरनेट स्वतंत्रता का दमन, मानवाधिकारों का उल्लंघन और उसके लिए डिजिटल उपकरणों का उपयोग, साइबर हमले, और तमाम तरह के छुपे हुए खतरों की पड़ताल करने के बीच कवि की कोशिश आपसी संबंधों में नमी खोजने, स्मृति के तटस्थ संसार में अपने जन्म-स्थान, पुरानी तस्वीरों और घर-आँगन से जुड़ी यादें में लौटने और वर्तमान के अकेलेपन और अजनबीपन के एहसास को साथ लेकर मन की उस गली में मुड़ते की भी है जहां उनका अपना एकांत है।

इसी एकांत में वे आधुनिक समय की गडमड और अव्यवस्थितः होती स्थितियों की पड़ताल करते हैं। इन हालातों में मनुष्यता के धर्म पर टिके रहने की भरपूर कशिश के बावजूद अजनबीपन को अपने करीब पाते हैं,

यह वह चेहरा नहीं जो माँ जाते समय छोड़ गई थी
कभी स्वप्न में मिले तो शायद अपनी अचूक ममता से पहचाने
बाक़ी तो मैं खुद एक अजनबी हूँ इस चमकदार सभ्यता में
(पुरानी तस्वीर के बरअक्स)

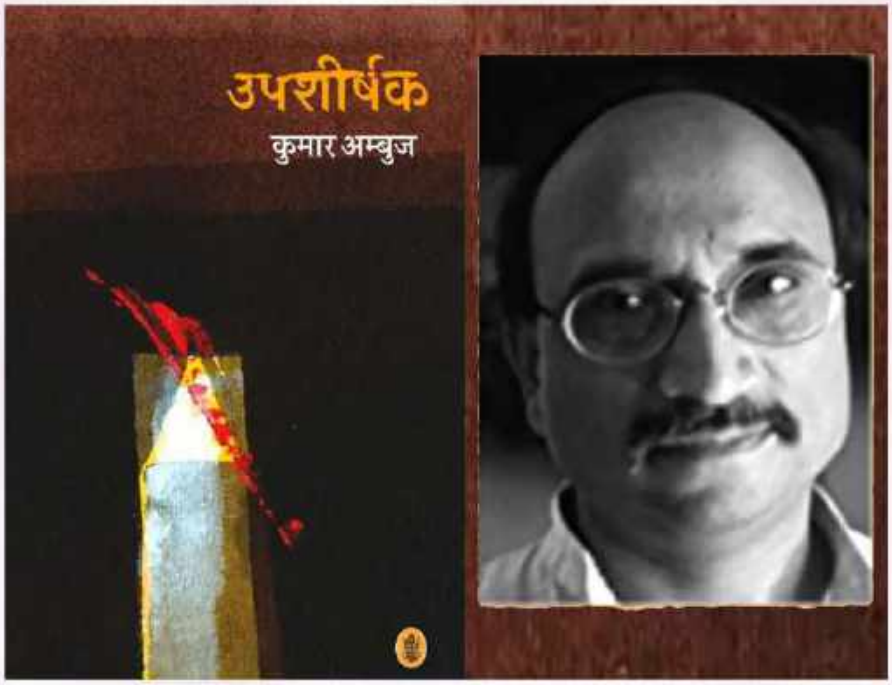

कुमार अंबुज की कविताओं में स्मृति, गहरी जिम्मेदारी और वेदना का भाव लेकर आती हैं।

किताबों में दबे हुए मिलते हैं
मुरझाए फूल, सुखी घास, जर्जर पत्तियाँ
तितलियों के जीवाश्म

इतने बरसों बाद हम समझ सकते हैं
किसी ने अपने जीवन से चुकाया है
स्मृति का मूल्य
(कीमत)

प्रेम, स्नेह रहित जीवन इस मशीनी युग को तोहफ़े के रूप में मिला है, जिसके बिना भी जीवन के रोज़गार जारी रहते हैं,

एक दिन सब समझ जाते हैं
प्रेम के बिना कोई मर नहीं जाता
(अन्त का जीवन)

विस्मय नहीं कि संग्रह की कविताओं से गुज़रते हुए संवेदनशील पाठकों के लिए कवि का सिरदर्द, उनकी चिंता का सबब बन जाए और दिवंगत दोस्त को याद करते कवि के बिंब उन्हें बींध जाएँ।

इस क्रूर समय का पहला शिकार आधी दुनिया, अल्पसंख्यक और आदिवासी समुदाय है। सदियों से पितृसत्तात्मक संरचना का भार उठाती आई स्त्री आज भी इस भार से दोहरी हो रही है,

दुख उठाने के लिए स्त्रियाँ ही बची रह जाती हैं
मानो उनका यही जीवन चक्र है- सुख देना, दुख सहना
और नए दुखों की राह तकना
पार्श्व में संगीत गूँजता है विलाप की तरह
वाद्य यंत्र अपना काम करते हैं
बन्दूकें अपना
(धरती का विलाप)

स्मृतियाँ जो वर्तमान को रोशन करने के लिए जानी जाती हैं वे भी अब किसी तरह से आश्वस्त नहीं करती क्योंकि उनमें भी उतना ही भ्रम है, जितना भ्रम प्रेम में है,

मैं जो एक विस्मय में गुज़ारना चाहता था अपनी आयु
अब किसी दूसरे विस्मय में गुज़ारते हुए सोचता हूँ
इस अचरज में नहीं जीना चाहता था
जिसमें प्रेम का संभ्रम उसी तरह से रहा चला आता है
जैसे प्रेम
(प्रेम की स्मृति में संभ्रम)

मध्यमवर्गीय अवसाद से दूर ये कविताएं प्रकृति की सहचर है। कवि के संसार में प्रकृति, प्रकाश का स्त्रोत है,

ऐसे में यह पौधा उग रहा आता है कुछ उजाड़ में
यह बाज़ार से दूर इधर खुली जगह में है
यह अभी किसी की मिल्कीयत नहीं
किसी के निशाने पर नहीं
कोशिश करता हूँ इसे देखूँ उम्मीद की तरह
(दूसरी कोई रोक-टोक नहीं है)

लम्बी कविता, शोक सभा का पाठ हर बार नए अर्थों को साथ लेकर आता है कुमार अंबुज ने अपनी कविताओं में कई प्रश्नों के मुँह को खोल कर रखा हुआ है क्योंकि कवि समेत सारी सभ्यता को अब वाकई जवाब का इंतजार है।

लेखक- कुमार अंबुज
पुस्तक- कविता संग्रह
प्रकाशन- राधाकृष्ण प्रकाशन
मूल्य- रु० 175/- ●

सत्ता के पतन का रूपक है मगध

रूपाली सिन्हा

आमतौर पर रचनाएं एक समय के बाद अपने समय तक में सीमित होने लगती हैं या अप्रासंगिक नहीं रह जाती हैं। ऐसे में जब कोई रचनाकार या कला मर्मज्ञ उसे उसके देशकाल से खींच कर ले आता है, और उसका रंग अपने वर्तमान में बिखेर देता है, तो न सिर्फ रचना को प्राणवायु मिलती है बल्कि वर्तमान को भी आत्म-मूल्यांकन करने का अवसर मिलता है। विमर्शों की एक नई खिड़की खुलती है जो समाज और व्यवस्था की एकरेखीय चाल से उपजी उमस में एक बड़ी राहत प्रदान करती है।

कुछ ऐसी ही खिड़की 'मगध' नाटक के मंचन से खुली है। 'मगध' हिंदी के प्रख्यात कवि-पत्रकार श्रीकांत वर्मा की महत्वपूर्ण काव्य-कृति है। उन्हें इस संग्रह पर साहित्य अकेडमी पुरस्कार मिल चुका है। इस कृति ने तब सत्ता के अंदरूनी संघर्ष और पतन का एक बड़ा रूपक खड़ा किया था। वह अपने समय और शक्ति संरचना की आलोचना भी थी। श्रीकांत वर्मा ने जिस विचार और दृष्टि को काव्य का रूप दिया था, उसे पिछले दिनों मंडी हाउस में, नाटक के रूप में मंचित होते, बहते देखने का अनुभव अविस्मरणीय रहा। इसके लिए रंग विमर्शकार अमितेश कुमार सराहना के पात्र हैं जिन्होंने काव्य की भावुकता को जीवित रखते हुए उसका मंचीय रूपांतरण बहुत ही सटीक तरीके किया है। प्रखर निर्देशक दिलीप गुप्ता ने पात्रों के चयन से लेकर अभिनय तक सभी क्षेत्रों में जिस बारीकी और निष्ठा से परिश्रम किया है, वह नाटक की समाप्ति के बाद देर तक, दर्शकों की बजती तालियों में बहुत अच्छे से महसूस किया जा सकता था।

नाटक की बात की जाए तो, नाटक ने राजनीति, सत्ता, काल, अस्तित्व, अस्मिता-बोध और इतिहास को निचोड़ कर दर्शक के सामने पेश करने का कार्य किया। नाटक के पात्र भले ही ऐतिहासिक थे, लेकिन उनमें बहने वाला जीवन-रस वर्तमान का था।

बहरहाल नाटक की बात की जाए तो, नाटक ने राजनीति, सत्ता, काल, अस्तित्व, अस्मिता-बोध और इतिहास को निचोड़ कर दर्शक के सामने पेश करने का कार्य किया। नाटक के पात्र भले ही ऐतिहासिक थे, लेकिन उनमें बहने वाला जीवन-रस वर्तमान का था। जिसे सभी पात्रों ने उम्दा तरीके से अभिव्यक्त किया है। व्यवस्था किस तरह से उम्मीदों के समानांतर एक नरक का निर्माण कर रही है और किस तरह समाज खुद को बंधा हुआ महसूस कर रहा है, ये इस नाटक में जिस प्रकार उभर कर सामने आया है, वह एकबारगी भारतेंदु युग के मंचनो की याद दिला देता है जहां बिना कुछ कहे भी सब कुछ कह दिया जाता था।

यह नाटक की सफलता ही कही जाएगी कि उसने मगध के माध्यम से उस भारत का चित्र उकेर दिया है जहां जनता अपना शासक चुनने के लिए मत देने के अधिकार का प्रयोग करते ही, अपने प्रश्न पूछने का अधिकार खो देती है। और फिर भारत में भी वही होता है जो मगध में होता है 'कोई छींकता तक नहीं/इस डर से कि/ मगध की शांति/ भंग न हो जाए'। और सत्ता का खौफ इतनी खामोशी ओढ़ा देता है कि 'जब कोई नहीं करता/ तो नगर के बीच से गुजरता हुआ/ मुर्दा यह प्रश्न कर हस्तक्षेप करता है कि/ मनुष्य क्यों मरता है'। लेकिन सच कहें तो यह नाटक देख मन में प्रश्न आया कि ख़ामोशी और निष्क्रियता की सफेद चादर ओढ़े मनुष्य को असल में मौत क्यों नहीं आती, जो चुप हैं वो मरते क्यों नहीं? लेकिन इसका उत्तर भी नाटक में ही सूत्र-रूप में छिपा है। इन सूत्रों को पकड़ना कठिन नहीं है क्योंकि नाट्य रूपांतरण इतने सहज रूप में किया गया है कि सामान्य दर्शक भी समझ सकता है कि सत्ता-व्यवस्था, जनता को मरने भी नहीं देती ताकी वो उनपर शासन कर सके और जनता उसका हुक्म बजाती रहे- 'दुराचार करो और सदाचार की चर्चा करते रहो'।

अपने समीक्षक मन से इजाजत लेकर एक कोरे दर्शक के तौर पर कहूं तो नाटक देखने के दौरान दर्शक दीर्घा में फैला अंधेरा, मंच पर बोले जा रहे संवादों में घुल कर मन में समाता जा रहा था। फिर जिधर देखूं-सोचूं हर ओर 'मगध' ही दिख रहा था। एक ओर दहशत, मोहभंग, निराशा, निर्वेद में आकंठ डूबी हारी-थकी जनता तो दूसरी ओर भीड़ में परिणत होती जनता जो अपने नेता का राज्याभिषेक रक्त से कर के भी प्रसन्न है, भले वो रक्त उनके रीढ़ का ही क्यों न हो।

लेकिन ऐसा नहीं है ये नाटक सिर्फ गंभीर दर्शकों के लिए है। असल में ये नाटक दर्शकों को एक गंभीर दर्शक में बदल देता है। दर्शक अभी किसी चुटीले संवाद का आनंद ले ही रहे होते हैं कि तभी कोई पात्र आकर उनके विचार-तंतु को झकझोर देता है और यही इस नाटक की उपलब्धि है। वर्तमान समय में यह नाटक मगध का नया पाठ करता है क्योंकि सत्ता का चरित्र पहले से अधिक क्रूर हो गया है। ●

शोध छात्रा, दिल्ली विश्वविद्यालय

यौनिकता से जूझने के अलग अलग रास्ते

रश्मि शर्मा

पिछले दिनों 'हंस' में प्रकाशित रजनी मोरवाल की कहानी 'कोका किंग' पढ़ने के लिए लोग उतावले हुए जा रहे हैं। वरिष्ठ कवि कृष्ण कल्पित ने जब इस कहानी पर टिप्पणी करते हुए फेसबुक पर लिख दिया कि यह कहानी कोकशास्त्र का गुटका संस्करण है। इसके बाद तो इस कहानी को ढूंढ कर पढ़ने वालों की भीड़ बढ़ गई और रजनी मोरवाल एक बार फिर चर्चा में आ गई लेकिन हिंदी जगत में गंभीर शांत कोमल तथा संवेदनशील कहानियों को पढ़ने और उस पर चर्चा करने होड़ नहीं मचती। आज हिंदी के ज्यादातर लेखक कहानी में 'सनसनी' ढूंढना चाहते हैं यद्यपि रजनी मोरवाल ने कहा है कि कहानी में 'सनसनी' पैदा करना उनका मकसद नहीं है। यह सच है कहानी कहीं से अश्लील नहीं है बल्कि उन्होंने बदलते हुए भारतीय समाज की हकीकत पर नब्ज़ रखी है और यह बताया है कि बाजार और भूमंडलीकरण के दौर में यौनिकता के मायने बदल गए हैं और अब कहानी को पुरानी दृष्टि से देखा परखा नहीं जा सकता तथा उसकी सतही विश्लेषण नहीं किया जा सकता। कहानी मूल्यांकन के मानदंड बदलने चाहिए। आज स्त्री और पुरुष दोनों गहरे संकट में जूझ रहे हैं और दोनों अपनी मुक्ति के लिए अलग-अलग रास्ते चुन रहे हैं। हालांकि उन रास्तों को लेकर नैतिकता और अश्लीलता के संदर्भ में बहस हो सकती है तथा मत मतांतर भी हो सकते हैं लेकिन मूल प्रश्न यह है हिंदी में अगर कोई चुपचाप कहानी लिखता है तो उसकी चर्चा क्यों नहीं होती? 'हंस' में ऐसी कई कहानियों पर अधिक चर्चा हुई जिसमें यौनिकता का प्रसंग था।

आज स्त्री और पुरुष दोनों गहरे संकट में जूझ रहे हैं और दोनों अपनी मुक्ति के लिए अलग-अलग रास्ते चुन रहे हैं। हालांकि उन रास्तों को लेकर नैतिकता और अश्लीलता के संदर्भ में बहस हो सकती हैं तथा मत मतांतर भी हो सकते हैं लेकिन मूल प्रश्न यह है हिंदी में अगर कोई चुपचाप कहानी लिखता है तो उसकी चर्चा क्यों नहीं होती? 'हंस' में ऐसी कई कहानियों पर अनिक चर्चा हुई जिसमें यौनिकता का प्रसंग था।

स्त्री के जीवन संघर्षों से जुड़ी कहानियों पर लोगों का ध्यान कम जाता। पिछले दिनों शैल प्रिया पुरस्कार से सम्मानित युवा कथाकार रश्मि शर्मा एक ऐसी ही कथाकार हैं जो कुछ वर्षों से चुपचाप कहानियां लिख रही हैं और अब उनका पहला कहानी संग्रह 'बंद कोठरी का दरवाजा' छपकर सामने आया है। उन्होंने अपनी कहानियों से 5 साल में हिंदी समाज का ध्यान आकृष्ट किया है। इस किताब का फ्लैप प्रसिद्ध आलोचक रवि भूषण ने लिखा है और उन्होंने सही कहा है - 'रश्मि शर्मा अपने कवि एवं संवेदनशील मन के साथ आस-पड़ोस, विभिन्न स्थानों स्थलों, गांव में जड़ जमाए रूढ़ियों, अंधविश्वासों, डायन प्रथा झरिया की कोयला खदानों, समाचार पत्रों की झूठी खबरों, भूमि अधिग्रहण पुलिस फायरिंग के साथ-साथ संस्कृत में पढ़ने वाली नसरीन और 'गे' सबको देखती समझती हैं'।

इस संग्रह में उनकी अंतिम कहानी है- 'बंद कोठी का दरवाजा।' इस कहानी में भी एक स्त्री अपने दैहिक संकट से गुजरती है लेकिन वह रजनी मोरवाल की नायिका के दैहिक संकट से अलग है और उस कहानी का ट्रीटमेंट भी अलग है। रश्मि की कहानी की नायिका नसरीन एक मुस्लिम पात्र है और उसकी शादी जिस पुरुष से होती है वह 'गे' निकलता है। यह जानने के बाद उस नसरीन को गहरा चोट पहुंचती है और उसके सामने भयंकर समस्या खड़ी होती है। क्या वह अपने पति को छोड़ दे या फिर विवाह कर ले या अपना एकाकी जीवन बिताए?लेकिन रश्मि रजनी की तरह अपना 'रास्ता' अख्तियार नहीं करती है। वह न तो किसी 'जिगेलो' के पास जाती है और न कोई 'प्रेमी' खोजती है। यह दो दृष्टिकोण के भेद का मामला है। हालांकि यह नहीं कहा जा सकता है कि रजनी ने वह कहानी लिखकर कोई अपराध किया हो, भले ही उसकी नायिका ने वह रास्ता अपनाकर अपराध किया क्योंकि कानूनी रूप से देहव्यापार अपराध की श्रेणी में आता है। हम यह नहीं अपेक्षा रख सकते कि उन्हें रश्मि शर्मा की तरह कहानी लिखनी चाहिए या फिर रश्मि को रजनी मोरवाल की तरह कहानी लिखनी चाहिए। मूल प्रश्न है कि स्त्री अपनी यौनिकता लेकर क्या करे? वह कहां जाए?कैसे जिये? दोनों लेखिकाओं ने यही प्रश्न उठाया है। रश्मि की कहानियों में स्त्रियां कई रूपों में मौजूद हैं। वह एक मां और बेटी के रिश्ते में भी है, तो एक प्रेमी और प्रेमिका के संबंधों में हैं, तो वह बलात्कार की शिकार एक लड़की मनोदशा में है यानी रश्मि के लिए इस तरह के संकट का कोई एक रूप मौजूद नहीं है। रवि भूषण जी ने ठीक ही कहा है कि रश्मि ने समाज में घट रही घटनाओं को बड़ी संवेदनशीलता के साथ देखा है और उसे बहुत ही सूक्ष्म ढंग से पकड़ने की कोशिश की है। उनकी भाषा में बहुत ही सहजता सरलता है और एक प्रभाव भी है। वह बहुत ही शांत और निर्मल मन ढंग से अपनी कहानी रचती बुनती हैं। उनके कथाकार मन के पीछे एक निश्छलता और कोमलता भी छिपी है। उनकी कहानियों में कोई हड़बड़ी या यथार्थ को पेश करने का कोई फार्मूला नहीं है। वह अपनी बात चुपके से कह देती हैं। वह मानव मन की अप्रतिम कथाकार हैं। अपने पहले संग्रह में एक परिपक्व कथाकार का वह परिचय देती हैं। उसका जाना हादसा महाश्मशान में राग विराग अद्भुत कहानियां है। उसका जाना पढ़कर प्रियदर्शन की मां पर लिखी गयी कहानी की याद आयी तो 'हादसा' पढ़कर मनीषा कुलश्रेष्ठ की लीलण कहानी याद आयी। 'हादसा' लीलण से अधिक स्वाभाविक कहानी है। दोनों इस दौर को दर्ज करती हैं। इसलिए इधर की कग्नियों पर यह आरोप गलत है कि वह यथार्थ से मुँह चुराकर लिखी जा रही है बल्कि बंद कोठी के दरवाजे को खोलने की कहानियां हैं। ●

- प्रियंवदा साह

भारत में वस्तुओं का अधिक मूल्य

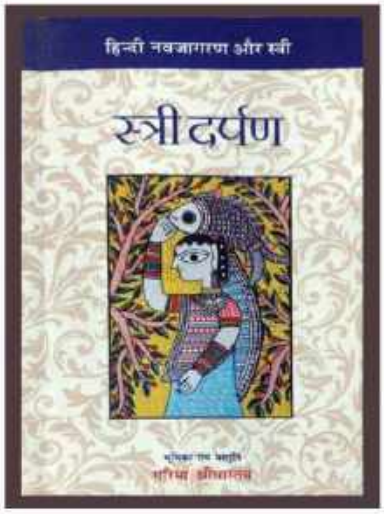

आप को जानकर आश्चर्य होगा कि अपने समय की ऐतिहासिक पत्रिका स्त्री दर्पण ने आज से 112 साल पहले देश मे महंगाई का सवाल उठाया था। आज जिस तरह महंगाई रोज आसमान छू रही है उसे देखते हुए यह लेख प्रासंगिक हो गया है। इस संपादकीय से पता चलता है कि इस पत्रिका की सम्पादिका रामेश्वरी नेहरू कितनी संवेदनशील थीं और महंगाई से जनता पर पड़नेवाली मार से चिंतित थीं।

(स्त्री दर्पण के एक मार्च 1910 अंक में प्रकाशित)

हमारे देश में आज वर्षों से यह देखा जा रहा है कि प्रतिदिन यहां हर वस्तु बराबर महंगी होती जाती है। हिसाब लगाया गया है कि आज से लगभग 50 वर्ष पहिले चावल, गेहूं, ज्वार, बाजरा, चना आदि जिस भाव आज फल मिलते हैं इससे आधे मूल्य पर मिलते थे। पिछले 50 वर्ष में थोड़ा-थोड़ा होकर इतना अन्तर हो गया है कि अब दुगुने पर नौबत पहुंच गयी है। खाने की वस्तुओं के महंगा होने के कारण देश में हर वस्तु महंगी हो रही है। जिस चीज़ के लिए पहिले एक रुपया खर्च करना होता था उसके लिए अब दो करने होते हैं। मजदूरी प्रतिदिन बढ़ती जाती है। धुलाई, सिलाई आदि अब वैसी सस्ती नहीं रहीं जैसी पहिले थीं। भारत के कुछ प्रान्तों में इतनी महंगी हो गई हैं कि थोड़ी आमदनीवालों को जो पहिले इतने ही रूपये में भली-भांति संतोष से रहते थे अब पालन-पोषण कठिन हो गया है। नौकर-टहलनों का थोड़ी वेतन पर मिलना दुर्लभ होता जाता है। जब पेट पालने के लिए अधिक द्रव्य की आवश्यकता है तो आप-से-आप हर मनुष्य अपना वेतन को बढ़ा रहा है। चारों ओर इस महंगाई का परिणाम यह हुआ है कि लोगों में असंतोष फैल रहा है। कोई व्यक्ति अपनी दशा में प्रसन्न व संतोषित दिखाई नहीं देता। इस महंगाई का कारण आविष्कार करने के लिए बहुत दिनों से यत्न किया जा रहा है। बहुतेरे लोग भिन्न-भिन्न कारण बताते हैं, पर अभी तक ठीक-ठीक निर्णय नहीं हुआ है कि वास्तव में इसके क्या-क्या कारण हैं कि उनको दूर करके प्रजा के इस दुख का निवारण किया जाए।

कुछ लोग इसका कारण यह बताते हैं कि भारत की देश प्रजा की संख्या बढ़ गयी है। आजकल भारतवासियों की संख्या लगभग 300,000,000 के है अर्थात 90,00,0000 मनुष्य पिछले 50 वर्षों में बढ़ गये हैं। हर वस्तु का मूल्य उसकी मांग पूर्ति करने के अनुसार रखा जाता है। अर्थात जितनी ही किसी वस्तु की मांग ज्यादा होती है और पूर्ति कम होती है उतनी ही वह महंगी होती जाती हैं जब कि भारत में खाने वाले इतने बढ़ गये व देश की पैदावार उतनी ही रही कि जितनी पहिले हुआ करती थी। इस बात की आवश्यकता हुई कि धरती का अधिक भाग अनाज आदि के बोने में व्यय किया जाय। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए 12 करोड़ बीघे से ज्यादा पृथ्वी इस कार्य में लगाई गई, परन्तु इससे भी मूल्य में बहुत कुछ अन्तर न पड़ा।

कुछ लोगों का मत यह है कि वर्षा अब समय पर नहीं होती जिसकी कमी से अनाज उतना उत्पन्न ही नहीं होता जितना पहिले होता था। वर्षा की त्रुटि को पूरा करने के लिए भी सरकार ने जगह-जगह नहरें बनाई हैं परन्तु इनका भी कोई अच्छा भाव दिखाई नहीं पड़ता। कहते हैं कि सरकार की ओर से टैक्स इतना लिया जाता है कि उसको अदा करने के लिए किसान को मजबूरन मूल्य बढ़ाने पड़े हैं। किसी की राय है कि देश के सिक्के में कुछ ऐसे दोष हैं कि जिनके कारण ये सब बिगाड़ हो रहे हैं। बाज़ लोगों का विचार यह भी है कि रेल द्वारा अनाज एक जगह से दूसरी जगह इस प्रकार पहुंचा दिया जाता है कि उसकी बहुतायत एक जगह भी इतनी नहीं रहती कि जिससे मूल्य में कुछ कमी हो। सारांश यह है कि अपनी-अपनी मति के अनुसार सब इसके कारण ढूंढ रहे हैं, परन्तु कोई कारण अभी तक संतोषदायक नहीं मिला है। सरकार ने भी अब इस ओर कुछ ध्यान देना आरंभ नहीं किया है। मिस्टर कृष्ण लाल दत्ता इस दोष के कारण मालूम करने के लिए एक मुकर्रर किये गये हैं। इस ओर ध्यान देने की अत्यन्त आवश्यकता है। डर है कि जिस प्रकार पिछले वर्षों में मूल्य बढ़ते गये हैं इसी प्रकार आगे भी बढ़ते न जावें। हमें आशा है कि बहुत जल्द यह आवश्यकता पूर्ण की जावेगी।

इसके कारण चाहे कुछ ही हों, यह तो सब पर प्रगट है कि इस समय में अच्छी प्रकार रहना-सहना उतना आसान नहीं रहा कि जितना पहिले था और ये कठिनाइयां प्रतिदिन बढ़ती जाती हैं। ऐसी हालत में हमारी ओर से भी इस बात का यत्न होना उचित है कि हम भी समय की इन कठिनाइयों को जितना सहज बना सकें बनावें। हमारे यहां की सब मरजादा सस्ते समय की हैं कि जब मनुष्य थोड़े में गुज़र कर सकता था। अब नये समय में वही बातें करते चले जाने के सिवाय हानि के कुछ लाभ नहीं। आजकल के समय में हर प्रकार के कारखाने खोले जाने चाहिए। अन्य देशों में जो नवीन रीतियों की कलें कृषि की उन्नति देने के लिए निकली हैं वह सब अपने देश में प्रवेश करने चाहिए। कहते हैं कि यदि कृषि की ओर भली-भांति ध्यान दिया जाये और द्रव्य व्यय किया जावे तो इसी धरती से दुगुनी पैदावार हो सकती है। इन बातों के करने से देश की दरिद्रता बहुत कम हो जावेगी। विशेष करके कारखानों के निकलने से तो सहस्त्रों ग़रीबों की रोज़ी खुल जावेगी और वह अनगिनत रूपया जो हर वर्ष विदेशी वस्तुओं के खरीदने से बाहर जाता है देश में ही रहेगा।

बड़े-बड़े कारखानों आदि का खोलना तो हम स्त्रियों के हाथ में नहीं है, पर हम उनकी सहायता स्वदेशी वस्तुयें लेकर अवश्य कर सकती हैं। हमें इस बात का खेद है कि और सब बातों में तो हमारा प्रान्त भारत के और प्रान्तों से पीछे था ही परन्तु स्वदेशी की ओर भी जहां कोई ध्यान नहीं देता। विदेशी वस्तुओं की सुन्दरताई को देख सब का मन ऐसा प्रफुल्लित होता है कि उनके खरीदने से देश को जा हानि होती है उसकी ओर कुछ ध्यान न देकर बराबर विदेशी वस्तुएं खरीदते जाते हैं। बंगाल, पंजाब, आदि और प्रान्तों में लोग स्वदेशी वस्तुएं बहुत ज्यादा खरीदते हैं। क्या अच्छा होता कि हमारे संयुक्त प्रान्त में भी स्त्रियों में ऐसे विचार फैल जाते और वह अपने हर काम में देश की उन्नति का ध्यान रखतीं। हम निर्बल है। कुछ कर नहीं सकतीं परन्तु यदि हर एक थोड़ी-थोड़ी करती रहें तो मिलाकर बहुत हो सकता है और हमारे देश के बहुत कुछ दुख कम हो सकते हैं।●

साभारः स्त्री दर्पण संपादक गरिमा श्रीवास्तव

नयी किताबों की ख़ुशबू

प्रस्तुति : अनुरोधा ओस

सियोल से सरयू (कहानी संग्रह) :डॉ सुनीता

वनिका प्रकाशन, मूल्य- रु० 230/-

सियोल से सरयू कहानी संग्रह में पाँच कहानियां हैं, ये कहानियां समाज के बदलते चेहरे को दर्शाती हैं। कहानियों की नायिका बहुत सशक्त है जो समाज को बदलना चाहती है। नई पीढ़ी आज के समय के साथ तेजी से भाग रही है दौड़ते भागते जीवन के अनुभव बिंदु से प्रकट हुई हैं। हृदय की दीवार पर ये कहानियां चुपके से सांकल खड़खड़ाती हैं, कहानियों में महुआ के रस की गंध है, जंगल की सुगंध है। वक्त के साथ इंफोर्मेशन टेक्नोलॉजी किस तरह द्रुतगति से आगे बढ़ रहा है। कहानियां गाँव की पगडंडियों से निकलकर कब हवाई जहाज की यात्रा पर निकल पड़ती हैं पता ही नही चलता। अपना नीला आकाश तलाशती कहानियां काफी सुदृढ हैं।

गुलाबी नदी की मछलियां (कहानी संग्रह) : सिनीवाली

अन्तिका प्रकाशन, मूल्य- रु० 180/-

संग्रह में नौ कहानियां हैं। रहौं कंत होशियार, गुलाबी नदी की मछलियां, अतिथि, अधजली, अपने लोग, इत्रदान, करतब बायस, बंटवारा, दूल्हा बाबू, ये कहानियां ठेठ जीवन के परिवेश को दिखाती हैं। गंवई सुगन्ध लिए ये कहानियां उनके जीवन की कठिनाइयों को व्यक्त करती हैं। कहानी गुलाबी नदी की मछलियां आंखों की नदी में तैरती मछलियों ने मृत्यु को इतने करीब आ कर देखा है कि उससे ही प्रेम कर बैठती हैं। प्रेम का फूल क्या इस तरह खिल सकता है, कहानियां ग्रामीण परिवेश के कठिनाई और बदल रहा समय उनको किस तरह प्रभावित करता है, सिनीवाली जी की ये कहानियां मन को स्पर्श करती हैं।

कोरोना न जाने काहू की पीर (उपन्यास) : विमलेश गंगवार

प्रकाशन- सन्मति, मूल्य- रु० 250/-

आपका उपन्यास 'सिसकती झेलम' में कश्मीरी अवाम की मजबूरी और उनके पीड़ा की कहानी है तो यह उपन्यास कोरोना काल में मजदूर स्त्रियों का संघर्ष दिखाता है। रोज कमाने वाले कैसे अपने लिए दो जून की रोटी का इंतजाम भी नही कर पा रहे थे, उन्हें अपने गाँव भागना पड़ा जबकि वहां रोटी का कोई पुख्ता इंतजाम नहीं था। दिल के सच्चे लोग पीड़ितों की मदद कर रहे थे। दवा और लकड़ियों को महंगे दामों में बेचने वाले भी थे। उपन्यास की नायिका ने भयंकर गरीबी की मार झेलते हुए अपनी रोटी का इंतजाम किया, उपन्यास की यह पात्र प्रेरणा देती है, विपरीत परिस्थितियों से लड़ने का।

काला सोना (कहानी संग्रह) :रेनू यादव

प्रकाशन- शिवना प्रकाशन

कथा जगत में रेनू यादव का नाम एक अलग पहचान लिए हुए है। पूर्वांचल के ठेठ गंवई संस्कृति की सुगंध लिए हुए, संघर्षरत हैं ये पात्र समाज के निचले पायदान पर आने वाली स्त्रियां हैं। आंचलिक बोध, वर्चस्ववादी सत्ता में संघर्ष करती हुई ये स्त्रियां समाज में अपने व्यक्तित्व को कायम करती हैं। ठेठ बोली का प्रयोग कहानियों को ग्रामीण परिवेश से जोड़े रखता है। कहानियां स्त्री दासता के विरुद्ध खड़ी स्त्रियों का पाठ है, हर कहानी में स्त्री का नया चेहरा है, जो उनके संघर्ष का पाठ है। रेनू यादव की कविताओं में भी इन्ही स्त्रियों की पगचाप सुनाई देती है, कहानियां सशक्त हैं।

एक स्कर्ट की चाह (कहानी संग्रह) : ऋतु त्यागी

ऋतु त्यागी की कहानियों में स्त्री की संवेदना है, आज के समाज में स्त्री कहाँ खड़ी है उसकी मानसिक स्थिति क्या है, सँग्रह की कहानियां स्त्री विमर्श पर बात करती हैं, तमाम ऐसे मुद्दे जो अनछुये रह जाते हैं, लेखिका ने उठाया है। ग्लेशियर से पिघलने मन का पानी समेटकर कागज़ पर रखा है। हंस में भी आपकी कहानियां स्त्रियों की छवि गढ़ती हैं, तमाम ऐसे उथल पुथल स्त्रियों के मन में चलते रहते हैं, जिन्हें कोई छू भी नहीं पाता, ऋतु त्यागी ने इन्हें उठाया है।

बचा रहे सब (कविता संग्रह) : नताशा

रश्मि प्रकाशन, मूल्य- रू० 250.00

नताशा की कविताएं जीवन के उस पक्ष की कविताएं हैं जो जीवन के खुरदुरे अहसास को व्यक्त करती है, कविताएं मल प्रकृति से गहरा जुड़ाव, महसूस करती हैं। जीवन के संवेदनशील धरातल को स्पर्श करती हुई मन की गिरहों को खोलतीं हैं। लेखिका अपने नैरेटिव में अपनी स्थानीय बोध को नही भूलती हैं, उनकी कविताओं बिहार झलकता है, फुटपाथ पर संघर्ष कर रही स्त्री की पीड़ा भी है। तमाम ऐसे बिंदु हैं जो हमे आश्चर्यचकित करते हैं।

वो फोन कॉल (कहानी संग्रह) :वन्दना बाजपेयी

भावना प्रकाशन

'वो फोन कॉल' वन्दना बाजपेयी की चुनिंदा कहानियों का संग्रह। जीवन के टर्निंग प्वाइंट पर खड़े लोगों की कहानियां जहाँ एक फैसला बदल सकता है जिंदगी। ऐसी ही कुछ कहानियों से सजी किताब है। वो फोन कॉल, तारीफ़, साढ़े दस हजार का मोबाइल, सेवइयों की मिठास, आखिर कितना घूरोगे, प्रिय बेटे सौरभ, अम्मा की अँगूठी, राधा का सत्याग्रह, पचास की एक. .पचास की एक, आदि और भी दिल को छूने वाली कहानियां इस संग्रह में उपस्थित हैं। 'वो फोन कॉल' कहानी को मनोवैज्ञानिक कहानी कह सकते हैं एक परेशान टीन एजर लड़की जिसने गलती से अपनी माँ को समझ कर कॉल लगा लिया, जो बातें वो किसी से कह नह सकती सब शेयर किया, इस बातचीत का नतीजा हुआ कि एक मासूम लड़की की जान बच गयी, सच में बच्चे आज अपने मन की बात कहने के लिए माँ के रूप में दोस्त को तलाशने हैं। वंदना जी को बहुत शुभकामनाएं इस संग्रह के लिए। ●